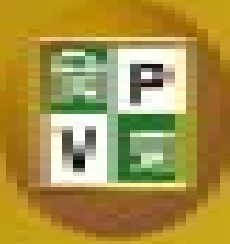


विज्ञान प्रसार की मासिक पत्रिका



श्री 2047

मार्च 2003

खण्ड 5

अंक 6

विज्ञान प्रसार समाचार

विज्ञान प्रसार एवं राष्ट्रीय विज्ञान दिवस 2003

यह उपयुक्त ही था कि विज्ञान प्रसार ने राष्ट्रीय विज्ञान दिवस पर 'भूकंप को समझने के लिए एक गतिविधि किट', यल्ला प्रगदा सुब्बारो पर शब्दों और चित्रों का एक अलबम का लोकार्पण किया और वर्ल्डस्पेस सेटेलाइट डिजिटल रेडियो पर नियमित प्रसारण शुरू किया। दोनों पुस्तकों व गतिविधि किट का लोकार्पण माननीय श्री बचीसिंह रावत, केन्द्रीय राज्य मंत्री – विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने, माननीय प्रो. मुरली मनोहर जोशी, केन्द्रीय मंत्री विज्ञान एवं पौद्योगिकी, मानव संसाधन तथा विकास एवं महासागर विकास की उपस्थिति में किया। इस अवसर पर प्रो. वी.एस. राममूर्ति, सचिव, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, डॉ. मंजु शर्मा, सचिव, जैव प्रौद्योगिकी विभाग एवं डॉ. सैयद इ. हसनैन, निदेशक सेंटर फॉर डीएनए फिंगर प्रिंटिंग एण्ड डायगनेस्टिक्स, हैदराबाद, भी उपस्थित थे।

यह महसूस करते हुए कि भूकंप को हम टाल तो नहीं सकते, लेकिन उससे सुरक्षा की पूर्व तैयारी हमें बचा सकती है – विज्ञान प्रसार ने – 'भूकंप समझने के लिए एक गतिविधि किट' तैयार किया है। यह किट छात्रों के लिए बहुत उपयोगी है और उन लोगों के लिए भी जो भूकंप की बुनियादी अवधारणा और सम्बंधित पहलुओं का अध्ययन करना चाहते हैं। 'यल्ला प्रगदा सुब्बा रो – ए लाइफ इन क्वेस्ट ऑफ पेनासिया : एन एलबम इन वर्ड्स एण्ड पिक्चर्स' नामक पुस्तक-नरेन्द्र श्रीवास्तव द्वारा अत्यंत सुन्दर चित्रों से सुसज्जित और श्री राजी नरसिंहम द्वारा कुशल शब्द योजना का सुन्दर संगम है। यह एक भारतीय वैज्ञानिक की गतिशील गाथा है, जिसने अनेक विषमताओं के बावजूद फॉलिक एसिड विटेमिन्स, एन्टीबायोटिक्स जैसे – टेट्रासाइक्लिन, एण्टी फाइलेरियल और एन्टी कैंसर ड्रग्स की खोज की।



माननीय श्री बची सिंह रावत, केन्द्रीय राज्य मंत्री, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, 'यल्ला प्रगदा सुब्बारो : ए लाइफ इन क्वेस्ट ऑफ पेनासिया' पुस्तक का लोकार्पण करते हुए

छात्रों और शिक्षकों को लाभान्वित होने के लिए विज्ञान संचार संबंधी रेडियो प्रसारण 28 फरवरी 2003 से, राष्ट्रीय विज्ञान दिवस के अवसर पर वर्ल्ड स्पेस डिजिटल सेटेलाइट रेडियो आरंभ हो गया है। यह प्रसारण वर्ल्ड स्पेस विज्ञान प्रसार, 110 एपीसोड वाले विज्ञान धारावाहिक 'मानव का विकास' का प्रसारण – हिन्दी व अंग्रेजी में – वर्ल्ड स्पेस चैनल "EQUALACCESS" पर करेगा, जिसमें सामयिक रुचि के विषयों पर पांच मिनट की अवधि के – विज्ञान-समाचार भी सम्मिलित होंगे। प्रसारण समय होगा सोमवार से शनिवार दोपहर 12 बजे से 12.30 बजे और शाम 3 बजे से 3.30 बजे तक। यदि एक एपीसोड अंग्रेजी में 12.00 बजे प्रसारित होता है तो उसी का हिन्दी रूपान्तर शाम 3 बजे प्रसारित होगा। इस एपीसोड का पुनःप्रसारण अगले दिन होगा – लेकिन क्रम बदल जाएगा यानी हिन्दी में 12 बजे से 12.30 और अंग्रेजी में 3 से 3.30 बजे। यह प्रसारण उन लोगों के लिए लाभादायी होगा जो पहले प्रसारण को नहीं सुन पाएंगे। जिन पचास विपनेट क्लबों को विज्ञान प्रसार ने डिजिटल रेडियो रिसीवर प्रायोगिक तौर पर दिये हैं – वे इस प्रसारण को सुन रहे हैं और उनकी प्रतिक्रियाएं प्राप्त हो रही हैं – जिनसे डिजिटल रेडियो प्रसारण में सुधार और विकास में मदद मिलेगी।

इस अंक में

संपादकीय

- शिशिर कुमार मित्रा  पृष्ठ... 3
- गणितज्ञ पोप  पृष्ठ... 8
- सरसों के नन्हें वाने में सात समंवर  पृष्ठ... 9
- सम्पीडन-डिजिटल क्रांति की मूल कुंजी  पृष्ठ... 11
- शून्य का संक्षिप्त इतिहास  पृष्ठ... 16
- विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की अभिनव उपलब्धियां  पृष्ठ... 18

...वैज्ञानिक ढंग से शौचें, वैज्ञानिक ढंग से करें...वैज्ञानिक ढंग से शौचें, वैज्ञानिक ढंग से करें...वैज्ञानिक ढंग से शौचें, वैज्ञानिक...

अंतरिक्ष की राह

ऐसा कहा जाता है कि सफलता की राह कई उतार-चढ़ावों से और अंतरिक्ष की राह ध्वंसावशेषों से भरी होती है। वस्तुतः, जो कोई भी देश अंतरिक्ष अभियान के लिए बीड़ा उठाता है उसे आपदाओं का सामना भी करना पड़ता है। 1990 से लेकर अब तक प्रक्षेपण यानों एवं उपग्रहों सहित करीब 59 अंतरिक्ष अभियान असफल हो चुके हैं। इनमें भारत के भी दो अभियान शामिल हैं। यह क्षति तब और भी हृदयविदारक हो जाती है जब इसमें कोई अमूल्य मानव जीवन समाप्त हो जाता है। मानव सहित अंतरिक्ष उड़ानों के 41 वर्ष के इतिहास में 21 जानें जा चुकी हैं 1967 में अपोलो-1 अभियान दल के तीन अंतरिक्ष यात्री प्रक्षेपण पैड में आग लग जाने के दौरान मारे गये। उसके कुछ ही महीने बाद 26 घंटे की उड़ान के उपरांत सोयूज़-1 के पृथ्वी पर उतरते समय एक अंतरिक्ष यात्री की मौत हो गई। 1971 में तीन अंतरिक्ष यात्रियों वाला सोयूज़-11 अभियान दल अभियान (मिशन) की समाप्ति पर मृत पाया गया। 1986 में अंतरिक्ष शटल चैलेंजर के सात अंतरिक्ष यात्रियों का पूरा अभियान दल तब मारा गया, जब उसके प्रक्षेपण के महज एक मिनट के बाद ही यान विस्फोट से नष्ट हो गया। और 1 फरवरी, 2003 को अंतरिक्ष शटल कोलम्बिया के अभियान दल के सात अंतरिक्ष यात्रियों की इहलीला समाप्त हो गयी जब धरती पर उतरने के मात्र 16 मिनट पहले वायुमंडल में पुनर्प्रवेश के दौरान टूटकर नष्ट हो गया – वे कितने नजदीक थे और अब कितनी दूर। उनमें से एक कल्पना चावला थी, जिसने तारों के सपने देखे, किन्तु वह घर वापस न आ पायी। सेनेका की भांति वह सोचती थी कि “पूरा ब्रह्मांड ही मेरी अपनी भूमि है।”

वास्तव में यह अंतरिक्ष शटल अब तक निर्मित सबसे जटिल अंतरिक्ष यान है। यह रॉकेट की तरह ऊपर उठता है, एक विमान की तरह उड़ता है, और एक ग्लाइडर की भांति उतरता है। यह अपोलो अभियानों, एरियन, पीएसएलवी या जीएसएलवी के लिए प्रयुक्त उन सैटर्न रॉकेटों जैसे अंतरिक्ष यानों से भिन्न है, जिनके प्रयोग लाये जा चुके चरण प्रक्षेपित होने के बाद समुद्र में गिर जाते हैं और उनका इस्तेमाल फिर से नहीं किया जा सकता है। दूसरी तरफ, शटल सैकड़ों बार उड़ान भर सकता है। इसी वजह से इसे अंतरिक्ष परिवहन प्रणाली स्पेस ट्रांसपोर्ट सिस्टम (एसटीएस) कहा जाता है।

एसटीएस-107, कोलम्बिया एक सफल अभियान के बाद पृथ्वी पर वापस लौटने के दौरान टूटकर से नष्ट हो गया। प्रसंगवश, यह अंतरिक्ष शटलों में सबसे पुराना था। इसने अपनी पहली उड़ान 1981 में भरी। प्यार से इसका उपनाम द ओल्ड ग्रे लेडी रखा गया। इसके अभियान दल के अन्य लोगों में एक एफ्रो-एशियाई, एक इजरायली और हरियाणा में जन्मी कल्पना चावला शामिल थी। प्रारम्भ में उड़ान भरने का उसका सपना जेआरडी टाटा से प्रेरित था। एसटीएस-107 की विषय वस्तु ‘अंतरिक्ष अनुसंधान और आप’ था। इसके अंतर्गत सार्वजनिक हित के लिए लगभग 80 प्रयोग किये गये जो हमें यह सिखाते कि पृथ्वी पर व्यावहारिक एवं दैनंदिन समस्याओं से कैसे निपटा जाये। इनमें से कुछ प्रमुख प्रयोग थे – चय-अपचय में परिवर्तन, हार्मोन स्तरों एवं सूक्ष्मगुरुत्व में मानव शरीर की प्रतिक्रिया; अंतरिक्ष में हृदय एवं फेफड़े कैसे काम करते हैं; भारहीनता की स्थिति में रक्त एवं शारीरिक द्रव का प्रवाह; और बृहद् आणविक प्रोटीन क्रिस्टल विकास का अध्ययन। कल्पना ने आग बुझाने के लिए तीक्ष्ण जल फूहारे के इस्तेमाल का अनोखा प्रयोग किया। किन्तु उक्त दुर्घटना में इन वैज्ञानिक प्रयोगों से संबंधित अति-बहुमूल्य

आंकड़े भी नष्ट हो गये। कोलम्बिया अभियान दल ने अपने काम सफलतापूर्वक कर लिये थे, और इसीलिए इसका दुःखद अंत और भी हृदय विदारक हो गया है।

हालांकि अभी भी यह स्पष्ट नहीं है कि कोलम्बिया नष्ट होने का कारण क्या है, लेकिन ऐसा माना जा रहा है कि उसके बाएं हिस्से की तापरोधी परत में दरार आ जाने की वजह से ऐसा हुआ। यह भी सम्भव है कि अंतरिक्ष कचरे (मलबे) से टक्कर हो जाने के कारण तापरोधी टाइल क्षतिग्रस्त हो गये होंगे। क्या इसमें कोई अंतर्निहित संरचनात्मक खामी थी? या ऐसा इसके उड़ान भरने के दौरान इसकी तापरोधी टाइलों के क्षतिग्रस्त होने के कारण हुआ? जब तक कि इस दुर्घटना के वास्तविक कारण का निर्धारण नहीं हो जाता, तब तक के लिए आगामी एसटीएस अभियानों को स्थगित कर दिया गया है, और एंडेवर, अटलंटिक एवं डिस्कवरी नामक तीन अन्य शटलों का सख्त निरीक्षण आवश्यक हो गया है। शटल उड़ानों का स्थगित होना 1998 से पृथ्वी की कक्षा में चक्कर लगा रहे अर्द्ध-निर्मित अंतर्राष्ट्रीय अंतरिक्ष स्टेशन इन्टर नेशनल स्पेस स्टेशन (आईएसएस) को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया है। यह ऐसी परियोजना है जिसमें करीब 16 देश शामिल हैं। इससे इसकी संरचना को पूरा होने में विलम्ब होगा। निस्संदेह आईएसएस में इस समय मौजूद तीन अंतरिक्ष यात्रियों के पास कुछ महीनों के लिए पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। उनके पास आपात स्थिति में बच निकलने के लिए एक पलायन यान भी मौजूद है। कोलम्बिया दुर्घटना के बावजूद, रूस ने आईएसएस के लिए एक मानव रहित आपूर्ति यान के पूर्वनिर्धारित प्रक्षेपण के साथ इस कार्यक्रम को आगे भी जारी रखा है।

प्रसंगवश, 1997 में अपने पूर्व अंतरिक्ष भ्रमण पर कोलम्बिया (एसटीएस-87) एक बार पहले भी कल्पना का घर बन चुका था। उस समय वह अभियान-अंतरिक्ष का भारहीन-पर्यावरण विभिन्न शारीरिक क्रियाओं को कैसे प्रभावित करता है, तथा सूर्य के बाह्य वायुमंडलीय परतों के अवलोकन के अध्ययन जैसे निर्धारित प्रयोगों पर केन्द्रित था। उस समय उसका विशिष्ट काम सूर्य के अध्ययन के लिए स्पार्टन उपग्रह छोड़ना था। कल्पना 1982 में पंजाब इंजीनियरिंग कॉलेज से वैमानिकी डिग्री प्राप्त करने वाली तथा 1984 में यूनिवर्सिटी ऑफ टेक्सास से एयरोस्पेस इंजीनियरिंग में एम.एस. और 1988 में यूनिवर्सिटी ऑफ कोलोरेडो से एयरोस्पेस इंजीनियरिंग में पी.एच.डी. की डिग्री प्राप्त करने वाली पहली महिला थी। वास्तव में, वह सभी विपरीत परिस्थितियों में 1994 में एक अंतरिक्ष यात्री चुनी गयी थी।

हमको यह महसूस करना चाहिए कि सभी तरह के अन्वेषण – वे अंतरिक्ष में हो या पृथ्वी पर – खतरनाक होते हैं। कल्पना और उसके साथियों ने पृथ्वी से सैकड़ों किलोमीटर दूर शांति एवं सौहार्द के लिए काम किया। सार्वभौमिक शांति और मानवता का विकास उनका लक्ष्य था। यदि हमें अस्तित्व में रहना है तो उनके रास्ते का अनुसरण करना आवश्यक है। इसके लिए जरूरी है एक सपना, संकल्पना और साहस। कल्पना ने करनाल के अपने स्कूल के बच्चों को कोलम्बिया से भेजे गये ई-मेल में कहा था : “सपने से सफलता तक की राह तो अवश्य मौजूद होती है। उसको प्राप्त करने के लिए आप में दृष्टि होनी चाहिए, इस रास्ते पर आगे बढ़ने के लिए साहस होना चाहिए, और अंततः उसे प्राप्त करने के लिए लगन होनी चाहिए। आपकी महान यात्रा पर आपको ढेरों शुभकामनाएं।”

□ विनय बी. काम्बले

सम्पादक

: विनय बी. काम्बले

पत्र व्यवहार के लिए पता : विज्ञान प्रसार सी-24 कुतुब इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110016

दूरभाष : 26967532, फैक्स: 26965986

ई-मेल : vigyan@hub.nic.in

वेबसाइट : http://www.vigyanprasar.com

“झीम 2047” में प्रकाशित लेखों/प्रलेखों में व्यक्त लेखकों के कथनों, मतों व सुझावों के लिए विज्ञान प्रसार किसी भी रूप में उत्तरदायी नहीं है।

“झीम 2047” में प्रकाशित लेखों के अंश, सौजन्य/साभार के साथ पुनर्प्रकाशित/उद्धृत किए जा सकते हैं।

शिशिर कुमार मित्रा

रेडियो भौतिकी के पथ-प्रदर्शक

□ सुबोध महंती

रेडियो शोध की ओर उन्मुख होकर शिशिर कुमार मित्रा ने निसंदेह साहसिक निर्णय लिया था। उस समय तक रेडियो विज्ञान शैशवास्था में था, और विकास की प्रारंभिक अवस्था से गुजर रहा था। इस विषय के बारे में शोध संबंधी सुविधाएं उपलब्ध होने की तो बात ही दूर रही, उसे किसी विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम तक में स्थान नहीं मिला था। मित्रा को इस कठिनाई का अहसास था, पर उससे उनका संकल्प नहीं डिगा।

बायोग्राफिकल मेमोयर्स ऑफ फेलोज ऑफ द नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंसेज ऑफ इंडिया,
खंड 1, 1966 में जे.एन. भर

शिशिर कुमार मित्रा भारत में रेडियो विज्ञान के अग्रदूत थे। उन्हें आयनमंडल के बारे में किए गए उनके प्रारंभिक कार्यों के लिए जाना जाता है। वायुमंडल में पृथ्वी से 60 किमी. ऊंचाई से लेकर सैकड़ों किमी. ऊपर तक फैला हुआ आयनमंडल सुदूर रेडियो-संचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आयनमंडल में उपस्थित वायु आयनीकृत होती है। 'आयनमंडल' शब्द ब्रिटिश इंजीनियर राबर्ट अलेक्जेंडर वाट्सन वाट (सन् 1892-1973) की देन है। आयनमंडल की उपस्थिति का पहला प्रायोगिक प्रमाण और सैमुएल जैक्सन बर्नेट (सन् 1873-1956) ने सन् 1925 में दिया था। आयनमंडल की कई परतें होती हैं और ऊंचाई के साथ-साथ उन्हें एफ.ई.डी. और सी परतों के रूप में चिन्हित किया जाता है। ई-परत के अस्तित्वमान होने की भविष्यवाणी ओलिवर हेवीसाइड (सन् 1850-1925) एवं आर्थर एडविनकिनले (सन् 1861-1939) ने की थी। एफ-परत को ऐपिलटन ने ढूंढ निकाला था। आयनमंडल में ई-क्षेत्र की उपस्थिति का पहला प्रमाण मित्रा और उनके सहयोगियों ने सन् 1930 में दर्शाया। मित्रा और उनके सहकर्मी पी. श्याम ने बताया कि लगभग 35 किमी. ऊंचाई से प्रतिध्वनियों के संकेत निरंतर प्राप्त होते रहते हैं। उन्होंने इसे डी-परत कहा। वैसे इस परत की उपस्थिति से लोगों को सबसे पहले ऐपिलटन ने सन् 1928 में अवगत कराया था। मित्रा और उनके सहयोगियों ने पृथ्वी की सतह से मात्र बीस किमी. ऊंचाई पर भी प्रतिध्वनियों को ढूंढने में सफलता प्राप्त की। ये प्रतिध्वनियां अत्यंत दुर्बल थीं, और उस समय तक अज्ञात रही एक परत से आ रही थीं। मित्रा ने इस परत को सी-परत कहा। मित्रा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य ऐपिलटन की आयनीकरण-संबंधी विरोधाभासों की व्याख्या करना था।



शिशिर कुमार मित्रा

मित्रा ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्नातकोत्तर कक्षाओं के भौतिकी के पाठ्यक्रम में 'वायरलेस' को भी शामिल किया। इससे भारत में 'रेडियो विज्ञान' की शिक्षा का प्रारंभ हुआ। उन्होंने कलकत्ता में एक प्रभावकारी आयनमंडलीय रेडियो स्कूल की भी स्थापना की। मित्रा के नेतृत्व में ही कलकत्ता विश्वविद्यालय में रेडियो भौतिकी और इलेक्ट्रॉनिक्स का एक स्वायत्त विभाग स्थापित हुआ। वह भारत में रेडियो भौतिकी संबंधी शिक्षा देने और शोध सुविधाएं उपलब्ध कराने वाला पहला विभाग था। बाद में उसे रेडियो भौतिकी और इलेक्ट्रॉनिक्स संस्थान का रूप दे दिया गया। मित्रा की प्रयोगशाला ने दूसरे अंतर्राष्ट्रीय ध्रुव वर्ष (आई.पी.वाई 2-1932) के अवसर पर आयनमंडल के विभिन्न आयामों के बारे में विशिष्ट अनुसंधान करने के लिए भागीदारी की। इस तरह मित्रा ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले संगठित शोध कार्यों में भारत को प्रवेश दिलाया। उन्होंने सन् 1950 में कोलकाता (तत्कालीन कलकत्ता) से 45 किमी. उत्तर स्थित हरिनघाट पर पहला आयनमंडलीय फील्ड स्टेशन स्थापित किया। मित्रा ने भारत में रेडियो प्रसारण के क्षेत्र में अग्रणी भूमिका निभाई।

अपने छात्रों के लिए मित्रा प्रमुख प्रेरणा स्रोत थे। वह इस बात पर जोर दिया करते थे कि निरंतर प्रयास करके ही कोई सफल शोधार्थी बन सकता है। वह

शोधार्थियों के लिए कठोरतापूर्वक कोई विशिष्ट कार्य निर्धारित किए जाने के विरुद्ध थे, और उन्होंने अपने शोध छात्रों पर कभी कठोर नियंत्रण नहीं रखा। उनका विश्वास था कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कोई सफल अध्यापक तभी हो सकता है जबकि अपने विषय को वह स्वयं भी समृद्ध करें।

शिशिर कुमार मित्रा का जन्म 24 अक्टूबर, 1890 को कलकत्ता में हुआ था। उनका पैतृक आवास हुगली जिले के कोन्नगर नामक स्थान में था। उनके पिता जॉयकृष्ण मित्रा एक स्कूल अध्यापक थे। उन्होंने सन् 1878 में शरत कुमारी से विवाह किया, जिनका संबंध ब्राह्मो परिवार से था। उस विवाह से जॉयकृष्ण के परिवार वाले सहमत नहीं थे। नतीजे के तौर पर उन्हें पैतृक संपत्ति से बेदखल कर दिया गया, और जॉयकृष्ण को माता-पिता का घर छोड़ना पड़ा। नवविवाहित जोड़े को मिदनापुर जाना पड़ा। वहां शरत कुमारी का मायका था। जॉय वहां अपने परिवार के साथ एक दशक तक रहे। सन् 1892 में वे लोग कलकत्ता चले आए। वहां जॉयकृष्ण एक स्कूल में अध्यापन करने लगे। शिशिर कुमार के जन्म के समय उनकी माता कैंपबेल मेडिकल स्कूल में अध्यापिका थी। सन् 1892 में अंतिम वर्ष की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद शरतकुमारी को भागलपुर (बिहार) के लेडी डफरीन मेडिकल अस्पताल में नियुक्ति मिल गई, और उनका पूरा परिवार वहीं चला गया। जॉयकृष्ण को भी स्थानीय म्युनिसिपल कार्यालय में क्लर्क की नौकरी मिल गई।

मित्रा ने अपनी स्कूली शिक्षा भागलपुर जिला स्कूल में शुरू की। वहां से इंटरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मित्रा ने टी.एन.जे. कॉलेज में दाखिला लिया। वहां से उन्होंने एफ.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1908 में वह प्रेसीडेंसी कॉलेज में बी-एस.सी. छात्र के रूप में दाखिला लेने के लिए कलकत्ता लौटे। वहां पर उनका संपर्क भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान के दो अग्रदूतों जे.सी. बोस और पी.सी. रे से भी हुआ। वह जे.सी. बोस द्वारा सूक्ष्म तरंगों के विभिन्न गुणधर्मों और पौधों की विभिन्न प्रतिक्रियाओं के अध्ययन के लिए निर्मित उपकरणों पर मुग्ध थे। सन् 1912 में उन्होंने प्रेसीडेंसी कॉलेज से भौतिक विज्ञान में एम-एस.सी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। उत्तीर्ण होने वाले छात्रों में उन्हें प्रथम स्थान मिला।

प्रेसीडेंसी कॉलेज के वातावरण ने मित्रा पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होंने वैज्ञानिक अनुसंधान कार्यों को अपना क्षेत्र बनाने का निश्चय कर लिया। एम-एस.सी. की परीक्षा परिणामों के घोषित होने के तत्काल बाद उन्हें जगदीश चंद्र बोस के अधीन कार्य करने का अवसर मिला। उन दिनों शोध कार्यों के लिए फेलोशिप मिलना कठिन था। मित्रा का कलकत्ता में शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनकी विधवा मां सहयोग देती थीं। लेकिन उन्हें अपने परिवार को चलाने के लिए अब स्वयं आर्थिक सहयोग की सख्त आवश्यकता महसूस कर रही थीं। उनकी स्वयं की आय पर्याप्त नहीं थी। अतः जब मित्रा को टी.एन.जे. कॉलेज, भागलपुर में प्रवक्ता की नौकरी मिली, तो उन्होंने कलकत्ता छोड़ दिया। उन्होंने एफ.ए. की परीक्षा उसी

कॉलेज से उत्तीर्ण की थी। एक ईसाई कॉलेज में प्रवक्ता पद पर नियुक्ति पाने के बाद वह भागलपुर से पश्चिम बंगाल स्थित बंकुर नामक स्थान पर चले आए। उन्होंने चार साल तक कालेजों में अध्यापन कार्य किया, लेकिन इसी बीच उनके मन में शोधकार्य करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। लेकिन जिन मुफस्सिल कॉलेजों में मित्रा अध्यापन करते थे, उनमें शोध कार्यों के लिए कोई संभावना नहीं थी। लेकिन मित्रा जैसा आदमी हाथ पर हाथ रख कर नहीं बैठा रह सकता था। इसलिए उन्होंने कॉलेज की साधनहीन प्रयोगशाला में उपलब्ध स्वदेशी से ही कक्षा में अपने व्याख्यानों से संबंधित प्रयोग प्रदर्शित करने शुरू कर दिए। उन्होंने बंगाली भाषा में लोकरुचि के विज्ञान-संबंधी लेख भी लिखने शुरू किए।

विज्ञान संबंधी शोध कार्यों में सक्रिय होने का मित्रा का स्वप्न अंततः साकार हुआ। मित्रा जिन दिनों कॉलेज में अध्यापन कार्य कर रहे थे, उन्हें दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन उप कुलपति सर आशुतोष मुखर्जी स्नातकोत्तर कक्षाओं में विज्ञान-संबंधी शोधकार्यों की शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रयास कर रहे थे। सर आशुतोष मुखर्जी के अथक प्रयासों से सन् 1916 में यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस की स्थापना हो गई। नवस्थापित यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस के भौतिक विभाग में अध्यापन के लिए मुखर्जी ने जिन लोगों को आमंत्रित किया, उनमें मित्रा भी थे और उन्हें प्रवक्ता के पद पर नियुक्त किया गया। इसके साथ ही मित्रा की विज्ञान यात्रा ने एक विशिष्ट मोड़ ले लिया। उसी दौरान पालित प्रोफेसर के रूप में भौतिक विभाग में सी.वी. रमन का प्रवेश हुआ। मित्रा ने सी.वी. रमन के दिशा निर्देश में प्रकाश के विवर्तन और व्यक्तिकरण के बारे में शोधकार्य शुरू किया। उन्हें अपनी थीसिस पूरी करने में केवल तीन वर्ष लगे, और सन् 1919 में उन्हें उनकी उस थीसिस पर कलकत्ता विश्वविद्यालय ने डी.एस.सी. की उपाधि दे दी।

सन् 1920 में मित्रा पेरिस के सोर्बॉन विश्वविद्यालय गए। वहां वह चार्ल्स फ़ैब्री (सन् 1867-1945) के शोधसमूह में शामिल हो गए। फ़ैब्री ने सन् 1913 में वायुमंडल के ऊपरी हिस्से में ओजोन की खोज की थी। फ़ैब्री की प्रयोगशाला में मित्रा ने ताम्र वर्णक्रम के 2000-2300 आंगस्ट्रॉम क्षेत्र के तरंग मानकों के निर्धारण के बारे में शोध किया। इस काम पर उन्हें सन् 1923 में दूसरी बार डाक्टरेट की उपाधि मिली। सोर्बॉन से वह इंस्टीट्यूट ऑफ रेडियम में मेरी क्यूरी के साथ काम करने के लिए चले गए। लेकिन वहां वह अधिक समय तक काम नहीं कर सके। वहां से वह प्रोफेसर गटन के साथ काम करने के लिए नैसी विश्वविद्यालय गए। प्रो. गटन विश्वविद्यालय के भौतिकी संस्थान में रेडियो वाल्व सर्किटों के बारे में काम कर रहे थे। गटन की प्रयोगशाला में उन्होंने कुछ ही दिन बिताए, लेकिन रेडियो संबंधी शोध कार्य को अपना कैरियर बनाने का निर्णय उन्होंने यहीं पर किया।

वर्णक्रमी शोधकार्यों में सफल रहने के बावजूद उन्होंने रेडियो संबंधी अनुसंधान में सक्रिय होने का निर्णय क्यों किया? इस बारे में जे.एम. भर ने लिखा है, "शायद इसका कारण यह है कि वह वायरलेस तरंगों के बारे में किए गए बोस के काम से इतने प्रभावित थे कि इस क्षेत्र में काम करने की इच्छा उनके अवचेतन मस्तिष्क में छिपी हुई थी। उल्लेखनीय है कि मित्रा ने बोस के प्रयोग को उस समय देखा था, जब वह प्रेसीडेंसी कॉलेज के छात्र थे। रेडियो संबंधी शोध को अपना क्षेत्र चुनने के पीछे जो भी कारण हो, इसमें संदेह नहीं कि यह एक साहसिक निर्णय था। मित्रा ने जब रेडियो विज्ञान को अपना कैरियर बनाने का निर्णय लिया, उस समय तक वह विज्ञान शैशवावस्था में था। रेडियो विज्ञान भारत के किसी विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में शामिल नहीं था, इसलिए उससे संबंधित शोधकार्यों के लिए कोई सुविधा उपलब्ध नहीं थी। इन बाधाओं से विचलित हुए बिना उन्होंने अपने निर्णय के बारे में आशुतोष मुखर्जी को



रॉबर्ट अलेक्जेंडर वाट्सन वाट

पत्र लिखा। 10 मई, 1923 को उनके पत्र का उत्तर देते हुए सर आशुतोष मुखर्जी ने लिखा, "मुझे 18 अप्रैल के आपके पत्र को पाकर प्रसन्नता हुई और यह जानकर काफी अच्छा लगा कि आप अपने काम में इतने सफल रहे हैं। वायरलेस टेलीग्राफी के संकेतों से संबंधित जिस पाठ्यक्रम का आपने सुझाव दिया है, वह काफी रुचिकर लगा। इस संबंध में एक योजना तैयार करें, और उसे कम से कम खर्चीला बनाने का प्रयास करें। मैं देखूंगा कि इस संबंध में क्या किया जा सकता है? वैसे आप यह निश्चित जानें कि इसका काफी विरोध होगा। लेकिन हमें इससे भयभीत नहीं होना है। हमें अपनी राह बनाने के लिए संघर्ष करना होगा।"

मित्रा सन् 1923 के अंत में फ्रांस से लौट आए, और उन्हें भौतिकी का खैरा प्रोफेसर नियुक्त किया गया। उन दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिकी की शिक्षा देने के लिए सी.वी. रमन, डी.एम. बोस और कुछ अन्य लोगों का एक समूह बनाया गया था। मित्रा उस समूह के सदस्य बन गए। मित्रा पर इस नए विषय में शोध एवं शिक्षण कार्य के लिए 'वायरलेस सेक्शन' की स्थापना का दायित्व था। आशुतोष मुखर्जी के सक्रिय समर्थन की मदद से मित्रा भारत में पहली बार स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्यापन और शोध कार्य प्रारंभ कराने में सफल रहे।

मित्रा के काम के महत्व को समझने के लिए आयनमंडल को समझना, और साथ ही यह जानना आवश्यक है कि उन्होंने जब काम शुरू किया, उस समय लोगों की आयनमंडल के बारे में क्या समझ थी। लंबी दूरी के रेडियो संचार के लिए आयनमंडल की उपस्थिति आवश्यक है। यह ऊपरी वायुमंडल का हिस्सा है और इसके कारण पृथ्वी की वक्रिय सतह के चारों ओर आकाशीय तरंगों की सहायता से रेडियो संचार संभव हो पाता है। हमारे वायुमंडल के सभी क्षेत्रों को उनके आयनीकरण, ताप और संरचना के आधार पर परिभाषित किया गया है। वायुमंडल अथवा आयनमंडल में आयनी परत का अभास सर्वप्रथम सन् 1882 में स्कॉटलैंड के भौतिकविद् बाल्फोर स्टीवर्ट ने किया था। उसने यह विचार व्यक्त किया कि वायुमंडल के बाहरी हिस्से में विद्युत् का संचार करने वाली एक परत है और उसकी उपस्थिति के कारण ही पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र में मामूली परिवर्तन हुआ करते हैं, पर स्टीवर्ट के कथन को उस समय महत्व नहीं दिया गया। उसकी इस अवधारणा को मान्यता तब मिली, जब सन् 1901 में गुगलियो मार्कोनी (सन् 184-1937) ने वायरलेस संकेतों को अटलांटिक महासागर के उस पार 2800 किलोमीटर दूर भेजने में सफलता हासिल की। भौतिकविदों के लिए यह एक अप्रत्याशित उपलब्धि थी। इसका कारण यह था कि प्रकाश की तरह ही रेडियो तरंगें भी सीधी रेखा में चलती हैं, इसलिए उन्हें पृथ्वी के धरातल पर दृष्टि की सीध में ही पहचाना जा सकता है। अतः रेडियो तरंगों के प्रसारण की इस परिघटना की व्याख्या करने के लिए वायु की एक विद्युत् संचारी परत के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ा।

स्टीवर्ट ने भी यही परिकल्पना की थी। सन् 1902 में ओलिवर हीवसाइड और आर्थर केनली ने एक बार फिर इस परत के अस्तित्वमान होने की बात दुहराई। उन्होंने यह परिकल्पना प्रस्तुत की कि इस तरह की परत वायुमंडल में लगभग 80 किलोमीटर की ऊंचाई पर पाई जाती है, और यह रेडियो तरंगों को क्षितिज से काफी दूर परावर्तित कर पुनरावर्तक केन्द्र का कार्य करती है। इस परत का नाम केनली हीवसाइड परत रखा गया। इसके अस्तित्व को सन् 1924 में प्रयोगों के माध्यम से एडवर्ड वी. एपलटन और सैमुएल जैक्सन बर्नेट ने प्रमाणित किया। उन्होंने दो वैकल्पिक तरीकों का प्रयोग किया। इनमें से एक तो आपतन कोण को मापने का तरीका था और दूसरा आवृत्ति परिवर्तन मापने का तरीका था। उन्होंने सूर्य और सौर-कलकों की स्थिति के सापेक्ष अपना व्यवहार बदलने वाली



एडवर्ड विक्टर एपेलटन

आयनीकृत परतों की स्थितियों का निर्धारण करने के लिए इन्हीं दोनों पद्धतियों का सहारा लिया।

अमरीका के यजी ब्रेट और एम.ए. टुवे ने परावर्तक क्षेत्र की ऊंचाई निर्धारित करने का तरीका ढूँढ़ निकाला। रेडियो तरंगों प्रकाश की गति से यात्रा करती हैं। यदि कोई प्रसारित रेडियो तरंगों के पृथ्वी पर लौटने के समय को माप सके तो परावर्तक क्षेत्र की ऊंचाई की गणना की जा सकती है। ब्रेट और टुवे ने रेडियो तरंगों के एक लघु स्पंदन को ऊपर की ओर प्रसारित किया, और उसके बाद उन्होंने दूरदर्शी की सहायता से उस स्पंदन के रिसीवर में पुनः प्रत्यावर्तित होने के समय को मापा। रिसीवर कुछ किलोमीटर की दूरी पर रखा था। इस पद्धति से उन्होंने केनली – हेवीसाइड परत की ऊंचाई पृथ्वी की सतह से 80–100 किलोमीटर ऊपर की ओर मापी।

लघु तरंगदैर्घ्य वाली रेडियो तरंगों की खोज के दौरान 100 किलोमीटर ऊंचाई पर एक और परावर्तक परत को ढूँढ़ निकाला। इस परत को ऐपलटन परत कहा गया। अन्य दो परतों का नाम बदलकर ऐपलटन ने ई (केनली-हेवीसाइड परत) और एफ (ऐपलटन परत) परत रखा दिया। इस नामकरण पद्धति को अब संपूर्ण विश्व में स्वीकार किया जाता है। बाद में ई परत के नीचे भी एक परत ढूँढ़ निकाली गई। इस परत को डी परत कहा गया। 50 से 90 किलोमीटर की ऊंचाई पर स्थित डी परत दिन के समय लुप्त हो जाती है। एक परत दो भागों में विभक्त हो जाती है। इन्हें क्रमशः एफ-1 और एफ-2 परत कहते हैं। केवल दिन के समय अस्तित्वमान रहने वाली एफ परत का सर्वाधिक घनत्व दो सौ किलोमीटर की ऊंचाई पर होता है। एफ-2 क्षेत्र का सर्वाधिक घनत्व तीन सौ किलोमीटर की ऊंचाई पर होता है और यह रात्रि में और अधिक ऊंचाई पर चली जाती है। ई-क्षेत्र 90 से 160 किलोमीटर की ऊंचाई पर और एफ क्षेत्र (जिसे कई बार सपेपलटन परत भी कहते हैं) 160 से 400 किलोमीटर की ऊंचाई पर पाया जाता है। ऐपलटन और उसके सहयोगियों द्वारा किए गए इन प्रारंभिक प्रयोगों ने मित्रा का ध्यान आकर्षित किया, और उन्होंने अपनी नवस्थापित प्रयोगशाला में वैसे ही प्रयोग करने का निश्चय किया। वह युवा और उत्साही वैज्ञानिकों के एक छोटे से समूह को इस चुनौतीपूर्ण अभियान में लगने के लिए प्रेरित कर पाने में सफल रहे।

मित्रा का समूह स्वयं निर्मित उपकरणों की सहायता से आयनमंडल की विभिन्न परतों की ऊंचाई मापने में सफल रहा। मित्रा की प्रयोगशाला द्वारा किए गए प्रयोगों से कलकत्ता जैसे कम ऊंचाई वाले उपोष्ण क्षेत्र की आयनमंडलीय स्थिति का सामान्य ज्ञान तो प्राप्त हुआ ही, उसके साथ ही उनके प्रयोगों से तूफानों, चुंबकीय आधियों तथा उल्कापातों के कारण वायुमंडल के ऊपरी भाग के आयनीकरण पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे में भी काफी जानकारी मिली। मित्रा ने डी-परत के बारे में भी एक सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस परत के बारे में सबसे पहले ऐपलटन ने सन् 1928 में जानकारी दी थी। डी-परत एक अवशोषक परत होती है और वह केवल दिन के समय ठीक ई-परत के नीचे सृजित होती है। इस परत से प्राप्त प्रतिध्वनियां केवल दिन के समय प्राप्त होती हैं।

मित्रा के अधीन कार्य करने वाले एच. रक्षित ने आपतन पद्धति से आयनमंडलीय प्रभावों का अध्ययन करने वाले पहले उपकरण का विकास किया। भारत राज्य प्रसारण सेवा के कलकत्ता केंद्र ने मित्रा के समूह को अपना मध्यम दूरी की तरंगों प्रसारित करने वाला ट्रांसमीटर उपलब्ध करवाया। मित्रा का समूह कार्यक्रमों के प्रसारण के लिए निर्धारित अवधि के बाद भी अक्सर प्रसारण किया करता था। मित्रा के समूह ने इन सुविधाओं का उपयोग करके ई-परत के अस्तित्व के प्रायोगिक प्रमाण उपलब्ध कराए।

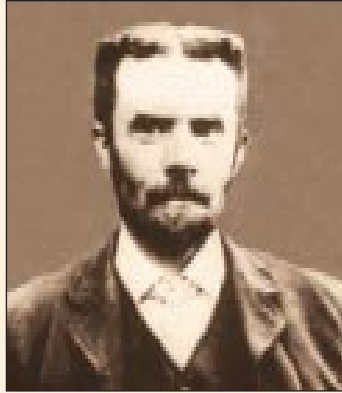
मित्रा के समूह ने महज बीस किलोमीटर की ऊंचाई से प्रत्यावर्तित होने वाले संकेतों का पता लगाया। मित्रा ने यह परिकल्पना प्रस्तुत की कि कम ऊंचाई से प्राप्त होने वाले ये परावर्तन अब तक अज्ञात रही एक परत से प्राप्त होते हैं। मित्रा ने इस परत को सी-परत कहा। प्रारंभ में पश्चिमी वैज्ञानिकों ने इस खोज को संदेह की दृष्टि से देखा, पर बाद में इंग्लैंड और अमरीका के कई प्रेक्षकों ने उस खोज का समर्थन किया। कम ऊंचाई से उत्पन्न होने वाली इन प्रतिध्वनियों का कारण संभवतः तापमान की अस्थिरता और वायुमंडल के निचले हिस्से में उपस्थित नमी की परत है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय में शिक्षण और शोध की सुविधा विकसित करने के साथ ही मित्रा भारत में प्रसारण तंत्र के विकास में भी संलग्न रहे। इंडियन स्टेट्स और ईस्टर्न एजेंसी नाम की एक प्राइवेट कंपनी ने कोलकाता में सन् 1923 में पहले प्रसारण ट्रांसमीटर की स्थापना की। जे.आर. स्टैपलटन की अध्यक्षता में पंजीकृत रेडियो क्लब ऑफ बंगाल नाभिकी सोसाइटी ने सन् 1926 में 'रेडियो' नाम की एक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया, जिसमें अनेक प्रासंगिक सूचनाएं दी जाती थीं। सन् 1927 में इंडियन ब्राडकास्टिंग कंपनी की स्थापना से पहले सन् 1926 में डलहौजी स्कवायर पर रेडियो क्लब के ट्रांसमीटर प्रतिदिन संध्या के समय कार्यक्रमों का नियमित रूप से प्रसारण किया करते थे। मित्रा और उनके सहयोगियों ने एक अन्य ट्रांसमीटर का निर्माण किया और उसे यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस, कलकत्ता में स्थापित किया। उसका संकेत चिन्ह 2cz था। गौरतलब है कि एक ऐसा समय था जब भारत के पूर्वी इलाके में केवल डलहौजी स्कवायर स्थित रेडियो क्लब के ट्रांसमीटर और वायरलेस प्रयोगशाला स्थित मित्रा के ट्रांसमीटर ही कार्यक्रमों का नियमित प्रसारण करते थे।

मित्रा द्वारा स्थापित वायरलेस प्रयोगशाला ने वायुवैद्युत क्षोभ को मापने का कार्य शुरू किया। इसके लिए एक विशाल एरियल को एक वाल्व विस्तारक से जोड़ा गया, तथा एक स्वचालित रिकार्डिंग उपकरण की स्थापना की गई।

विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद की वित्तीय सहायता से मित्रा ने आयनमंडल संबंधी कार्यों के लिए कलकत्ता से 50 किलोमीटर दूर हरिनघाट में एक क्षेत्रीय केंद्र की स्थापना की। विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद ने मित्रा को सन् 1949 में पर्याप्त वित्तीय अनुदान दिया था। इसमें मूल अनुदान के साथ ही आवर्ती अनुदान की भी व्यवस्था थी। मित्रा द्वारा स्थापित केंद्र में कामनवेल्थ के विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान संगठन (आस्ट्रेलिया) द्वारा उपलब्ध कराया गया। आयनमंडलीय ध्वनि यंत्र भी स्थापित किया गया। भारत में यह अपने ढंग का पहला आयनमंडल केंद्र था। सन् 1855 से इस केंद्र ने आयनमंडल का निरंतर निरीक्षण करना शुरू कर दिया।

मित्रा का चर्चित प्रबंध 'द अपर ऐटमॉस्फियर' विज्ञान के क्षेत्र में उनका प्रमुख योगदान था। इस तरह की पुस्तक लिखने का विचार मित्रा के मस्तिष्क में सन् 1935 में आया। उस वर्ष भारतीय विज्ञानों के राष्ट्रीय संस्थान (बाद में उसका नाम इंडियन नेशनल साइंस एकेडेमी रख दिया गया) ने आयनमंडल के बारे में एक संगोष्ठी का आयोजन किया। अगस्त, 1935 में आयोजित उस संगोष्ठी का उद्घाटन भाषण का शीर्षक था, 'रिपोर्ट ऑन द प्रेजेंट स्टेट ऑफ आवर नालेज ऑफ द आयनोस्फीयर'। उस रिपोर्ट में आयनमंडल के बारे में उपलब्ध सूचनाओं का विस्तृत विवरण था। आयनमंडल संबंधी शोध कर रहे संपूर्ण संसार के वैज्ञानिकों ने उसका स्वागत किया। उसके बाद ही मित्रा के मन में ऊपरी वायुमंडल के बारे में एक शोध प्रबंध लिखने का विचार आया। आयनमंडल, ऊपरी वायुमंडल का ही हिस्सा है। उन्हें अपनी पांडुलिपि लिखने में दस साल लग गए। इस बारे में सर एडवर्ड ऐपलटन ने टिप्पणी की थी, 'ऊपरी वायुमंडल से



ओलिवर हेवीसाइड



आर्थर एडविन केनले

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से जुड़े विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित खोजों के परिणामों को एक खंड में संकलित करने का यह पहला साहसिक प्रयास था। 'अपर ऐटमास्फियर' के महत्व के बारे में शिशिर कुमार मित्रा के एक मेधावी छात्र ए.पी. मित्रा ने लिखा था, "अपर ऐटमास्फियर' वायुमंडल विज्ञान में एक मील का पत्थर था। इसमें पहली बार वायुमंडलीय पर्यावरण के तटस्थ एवं आयनीकृत स्वरूप, तापीय संरचना और उसके अवयवों के वितरण, उसकी गति, सौर विकिरण से उसकी अंतःक्रिया और गैसी घटकों के कणीय प्रवाह तथा वायुमंडलीय दीप्ति यानी संपूर्ण वायुमंडलीय पर्यावरण के बारे में समग्रता से सोचा गया। आयनमंडल को इस संपूर्ण विराट परिदृश्य के अंशमात्र के रूप में देखा गया, और उसे सूर्य, पृथ्वी और संपूर्ण वायुमंडल से संबंधित माना गया। उस समय के लिए यह बिल्कुल नई अवधारणा थी। दूसरी बात यह थी कि मित्रा ने आयनमंडल के अध्ययन के लिए उस समय प्रचलित रेडियो-तरंग प्रसारण पद्धति से बिल्कुल अलग हट कर रेडियो तरंगों की खोज एक ऐसे दूर संवेदी उपकरण के रूप में की, जो ऐसे संकेतों का अनुभव करा सकती है, जहां गुब्बारे नहीं पहुंच सकते और जिन्हें केवल संकेतों की मदद से खोजा जा सकता है। इस व्यापक रूप से परिवर्तित (और काफी परिवर्द्धित) कैनवास के बावजूद, 'अपर ऐटमास्फियर' में दी गई अधिकांश जानकारी और वैज्ञानिक खोजों के परिणाम अत्यंत महत्वपूर्ण थे। आयनमंडल के बारे में एस. चंपल और डी.जे. बर्टल की 'जीओमैग्नेटिज्म', तथा जे.ए. फ्लेमिंग की 'टेरिस्ट्रियल मैग्नेटिज्म एंड इलेक्ट्रिसिटी' जैसी प्रतिष्ठित पुस्तकें पहले से ही मौजूद थीं, लेकिन वे विशिष्ट विषयों से संबंधित थीं। अतः मित्रा की पुस्तक अपर वायुमंडल संबंधी शोध करने वाले सभी लोगों के लिए एक संदर्भ पुस्तक के रूप में अनिवार्य हो गई। लेकिन इस प्रबंध का प्रकाशन आसान नहीं था। मित्रा और उनके सहयोगियों ने इस पत्रिका के प्रकाशन के लिए कड़ी मेहनत की थी, अतः वे इसका प्रकाशन किसी प्रतिष्ठित विदेशी

प्रकाशन के माध्यम से कराना चाहते थे। अतः मित्रा ने कुछ प्रतिष्ठित प्रकाशनों को पुस्तक की विषय-वस्तु की सूची के साथ पत्र भेजे। लेकिन उसके प्रकाशन के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। उनकी पांडुलिपि को अस्वीकार करते हुए एक प्रकाशक ने उन्हें जो पत्र भेजा था, यहां उसे उद्धृत करना उचित होगा। उस प्रकाशक ने लिखा था, "हमने आपके 16 मई के पत्र को काफी ध्यान से पढ़ा। हम आपके नाम से भलीभांति परिचित हैं, और स्वाभाविक रूप से हमें विश्वास है कि 'ऊपरी वायुमंडल' संबंधी आपका प्रबंध एक महत्वपूर्ण कार्य है, लेकिन हमें खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि अनेक कारणों से हम इसके प्रकाशन का दायित्व स्वीकार करना व्यावहारिक नहीं मानते।

पहली बात तो यह है कि यह काफी बड़ी पुस्तक है और भारत में भी इसका प्रकाशन काफी महंगा साबित होगा। हमारे देश में इसे प्रकाशित करना निश्चित रूप से बेहतर होगा, लेकिन यहां पर इसका प्रकाशन और महंगा होगा। इस तरह की पुस्तकों के बारे में अपने पुराने अनुभवों के आधार पर हमें ऐसा नहीं लगता है कि इस पुस्तक की इतनी बिक्री हो सकेगी कि उससे इसके प्रकाशन व्यय की भरपाई हो सके। दरअसल हमारा अनुमान तो यह है कि इससे हमें काफी वित्तीय घाटा उठाना पड़ेगा। इस तरह की पुस्तकें वास्तव में यूनिवर्सिटी प्रेसों को प्रकाशित करनी

चाहिए क्योंकि वे ऐसी विद्वतापूर्ण कृतियों के प्रकाशन के लिए ही स्थापित की गई हैं, जिनकी अपील अत्यंत सीमित है। इस बारे में एक अन्य विचारणीय बात यह है कि आपकी पुस्तक का जो सीमित दायरा है, उसमें भी उसे चैपमैन एंड

बर्टल की जिओमैग्नेटिज्म तथा सर नैपिएर शा की कृतियों से प्रतिद्वंद्विता करनी पड़ेगी।

कुल मिलाकर हमें खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि हम इस कृति के प्रकाशन में असमर्थ हैं। हम आपके द्वारा भेजी गई इस पुस्तक की विषय-सूची को वापस लौटा रहे हैं।"

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि प्रकाशकों के इस रवैये से मित्रा और उनके समूह को घोर निराशा हुई। उस मौके पर उनकी मदद के लिए मेघनाद साहा आगे आए। साहा उन दिनों एशियाटिक सोसाइटी के अध्यक्ष थे। उन्होंने निर्णय लिया कि एशियाटिक सोसाइटी इस पुस्तक को प्रकाशित करेगी, भले ही उसका प्रकाशन कितना भी महंगा क्यों न हो। एशियाटिक सोसाइटी ने उसका प्रकाशन शोध-निबंध

के रूप में किया और अपर ऐटमास्फियर का पहला संस्करण सन् 1947 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक की व्यापक स्तर पर प्रशंसा हुई और तीन वर्षों के अंदर ही इसकी दो हजार प्रतियां बिक गईं। यह निश्चित रूप से महान् उपलब्धि थी। सन् 1952 में एशियाटिक सोसाइटी ने इसका संशोधित संस्करण प्रकाशित किया। पूरी पुस्तक का रूसी भाषा में भी अनुवाद किया गया, और उसे सन् 1955 में फारेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस ने प्रकाशित किया।

मित्रा ने विज्ञान संबंधी एक अन्य समस्या का भी समाधान करने का प्रयास किया। उनका सोचाना था कि इससे सक्रिय नाइट्रोजन और आकाश में रात्रिकालीन संदीप्ति संबंधी वैज्ञानिक समस्या का समाधान हो जाएगा। उनका मानना था कि रात्रि में आकाश में मंद सी चमक इसलिए दिखती है कि ऊपरी वायुमंडल में उपस्थित आयान और इलेक्ट्रॉन एक-दूसरे के प्रभाव को निष्प्रभावी कर देते हैं। मित्रा ने सन् 1943 में यह सिद्धांत प्रस्तुत किया कि उत्तरीय संदीप्ति (आफटर रलो) N_2 आयनों के इलेक्ट्रॉनों से पुनर्संयोजन के कारण उदासीन हो जाने से उत्पन्न होती है, और यह

त्रि-पिंडीय संघाती प्रक्रिया होती है। संदीप्ति के बने रहने का कारण यह होता है कि तीसरा पिंड ऊपरी वायुमंडल में यदा-कदा ही उपस्थित होता है, इसलिए पुनर्संयोजन प्रक्रिया बिलंबित हो जाती है। सन् 1945 में मित्रा ने 'एक्टिव नाइट्रोजन : ए न्यू कियी' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित कराई। मित्रा के सिद्धांत की इस आधार पर आलोचना की गई कि संदीप्त गैस में N_2 आयनों को प्रयोगों के माध्यम से नहीं ढूंढा जा सकता है। उसके बाद मित्रा ने अपने सिद्धांत को संशोधित किया और यह परिकल्पना प्रस्तुत की कि सक्रिय नाइट्रोजन परमाणु स्थिर अवस्था और मेटा-स्टेबिल अवस्था के मिश्रण होते हैं। इस तरह वे N_2 और इलेक्ट्रॉनों के विघटित पुनर्संयोजित उत्पाद होते हैं। इस प्रकार N_2 आयान सक्रिय उत्पाद नहीं हैं, बल्कि वे इलेक्ट्रॉनों के साथ संयोजित हो करके सक्रिय तत्वों के जनक की भूमिका निभाते हैं।

चौथे दशक के उत्तरार्ध में मित्रा ने महसूस किया कि इलेक्ट्रॉनिक्स और रेडियो फिजिक्स का एक स्वतंत्र स्नातकोत्तर विभाग होना चाहिए और सन् 1945 में उन्होंने ऐसे एक विभाग की स्थापना के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के समक्ष प्रस्ताव रखा। विश्वविद्यालय ने प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया, पर वित्तीय कठिनाईयों के कारण यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया जा सका। वह विभाग सन् 1947 में स्थापित हो सका और उसकी स्थापना के लिए भारत सरकार ने शिक्षा मंत्रालय ने कोष उपलब्ध कराया। उस विभाग को बाद में रेडियो भौतिकी और इलेक्ट्रॉनिक्स संस्थान के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा यूनेस्को के साथ संयुक्त रूप से प्रायोजित की गई एक

वायुमंडल की विभिन्न परतें

पृथ्वी के वायुमंडल की कोई निश्चित ऊपरी सीमा नहीं है। वायुमंडल अनेक परतों में बंटा हुआ है। नीचे से लेकर ऊपर तक की मुख्य परतों को - ट्रोपोस्फियर, मेसोस्फियर, थर्मोस्फियर और एक्सोस्फियर कहते हैं।

ट्रोपोस्फियर की परत सबसे संकीर्ण है - यह पृथ्वी से करीब 11 किलोमीटर तक फैली है। लेकिन इसकी ऊंचाई पृथ्वी के गोलों के चारों ओर और विभिन्न मौसमों में अलग-अलग होती है। इसमें अधिकतर वायु है। ज्यादातर मौसम ट्रोपोस्फियर में ही घटित होते हैं।

ट्रोपोस्फियर के ऊपर **स्ट्रेटोस्फियर** स्थित है। यह 11 से 50 किलोमीटर तक ऊपर है। चूंकि ये क्षेत्र शान्त रहता है, इसलिए अधिकांश वायुयान निचले स्तर की हवाओं और मौसम से बचने के लिए इसी में उड़ते हैं।

मेसोस्फियर पृथ्वी से 50 से 80 किलोमीटर तक फैला है। यदि इस परत में उल्का गिरते हैं तो वे जल उठते हैं।

थर्मोस्फियर हवा की एक बहुत पतली परत है। ये पृथ्वी से 80 से 700 किलोमीटर ऊपर तक फैली है इसमें ही **आइनोस्फियर** है जिसकी परतें विद्युत् आवेशित कणों वाली हैं।

एक्सोस्फियर वायुमंडल की सबसे ऊपर वाली परत है। इसकी सीमा पूरी तरह निश्चित नहीं है। यह करीब 700 किलोमीटर ऊपर शुरू होती है और अंतरिक्ष के शून्य में समाप्त हो जाती है। इसमें वायु बिल्कुल नहीं होती।

योजना के अंतर्गत चुने गए पांच संस्थानों में से एक संस्थान वह भी थी।

अखिल भारतीय स्तर के रेडियो शोध संस्थान की आवश्यकता सबसे पहले मित्रा ने ही अनुभव की थी। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मित्रा ने प्रमुख ब्रिटिश वैज्ञानिकों की सहायता लेने का निर्णय किया। सन् 1936 में मैक्सवेल सोसाइटी के सम्मुख दिए गए अपने भाषण में मित्रा ने न केवल विभिन्न देशों में आयनमंडल संबंधी शोध कर रहे वैज्ञानिकों के बीच व्यापक सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया बल्कि उन्होंने इंग्लैंड के रेडियो रिसर्च बोर्ड की तर्ज पर भारत में एक समन्वयक संस्था बनाने की आवश्यकता पर भी बल दिया। भारत में इस तरह के बोर्ड के गठन की आवश्यकता पर सलाह मशविरा करने के लिए उन्होंने 5 मई, 1936 को अग्रणी ब्रिटिश वैज्ञानिकों को भोज पर आमंत्रित किया। आमंत्रित मेहमानों में सर ई.वी. ऐपलटन, सिडनी चैपमैन (सन् 1888-1970), सर राबर्ट अलेक्जेंडर वाट्सन वाट (सन् 1892-1973), ऐडवर्ड नेविले डि कोस्टा एंड्राडे (सन् 1837-1871), आर.ए. ग्रेगरी, नेचर के प्रतिष्ठित संपादक आर.ए. ग्रेगरी और कई अन्य लोग शामिल थे। सभी आमंत्रित सदस्यों ने मित्रा के सुझाव का स्वागत किया। ग्रेगरी ने इस विषय पर नेचर पत्रिका में एक संपादकीय लिखा। उन्होंने लिखा : भारत में एक ऐसे ही रेडियो रिसर्च बोर्ड की स्थापना का यह अत्यंत उपयुक्त समय है। यहां पर रेडियो संचार संबंधी शोध अब तक विभिन्न विश्वविद्यालयों से जुड़े बहुत छोटे समूहों के कार्यकर्ताओं तक सीमित रहा है और यह कार्य मुख्यतः कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एस.के. मित्रा तथा इलाहाबाद के प्रोफेसर एम.एन. साहा के मार्गदर्शन में होता रहा है.... निश्चित तौर पर इस समय भारत (रेडियो शोध संबंधी) विश्वव्यापी योजना में अपना स्थान प्राप्त करने की क्षमता रखता है और आशा की जानी चाहिए कि जो लोग ऐसा कर पाने की स्थिति में हैं, वे एक ऐसे रेडियो शोध केंद्र के उद्घाटन में सहायता देंगे और इसके लिए कार्य शुरू करने के लिए आवश्यक कोष मुहैया कराएंगे। भारत में पहले से ही चल रहे रेडियो शोध संकेत देते हैं कि वहां के विश्वविद्यालय न केवल एक भौतिक प्रकृति के प्रश्नों वाला कार्यक्रम प्रस्तुत कर पाने में सक्षम है, बल्कि ऐसे प्रशिक्षित व्यक्तियों की टीम भी तैयार कर सके हैं जो संसाधनों के अभाव में अब तक सीमित दायरे में आबद्ध खोज कार्य को आगे बढ़ाना चाहते हैं।" भारत वापस लौटने के बाद मित्रा ने रेडियो रिसर्च बोर्ड की स्थापना के लिए सशक्त अभियान छेड़ा, लेकिन ब्रिटेन के वैज्ञानिकों ने उनके प्रस्ताव का भले ही समर्थन किया हो, भारत के अधिकारियों पर उसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। मेघनाद साहा उन दिनों इलाहाबाद में थे। उन्होंने मित्रा के अभियान का खुलकर समर्थन किया। साहा सन् 1938 में कलकत्ता वापस आए। उसके बाद साहा और मित्रा दोनों ने मिलकर अपने अभियान को एक बार फिर पहले से भी अधिक सशक्त ढंग से छेड़ा। अंततः सन् 1942 में विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान विभाग के तत्वावधान में रेडियो अनुसंधान समिति का गठन हुआ। उस समय वह समिति भारत सरकार के वाणिज्य विभाग के अधीन कार्य करती थी। मित्रा उस समिति के अध्यक्ष नियुक्त किए गए। भारत में रेडियो अनुसंधान को प्रोत्साहित करने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास था। रेडियो रिसर्च कमेटी के गठन के बाद देश में अनेक रेडियो शोध केंद्रों की स्थापना हुई।

देश में औद्योगिक विकास के लिए मित्रा की चिंता जगजाहिर है। राष्ट्रीय विज्ञान संस्थान के रजत जयंती समारोह में विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान



सी.वी. रमन

परिषद की स्थापना का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था, "विज्ञान संबंधी गतिविधियों के बढ़ती तरी का एक बड़ा कारण सन् 1940 में विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान समिति की स्थापना के बाद वैज्ञानिक शोधकार्यों को सरकार से मिलने वाली सहायता रही है, बाद में वह समिति एक बड़े संगठन विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद (सीएसआईआर) का घटक बन गई। सरकारी स्तर पर वैज्ञानिक अनुसंधानों को प्रायोजित एवं प्रोत्साहित करने की नीति को अपनाया जाना पिछली चौथाई सदी के दौरान देश के वैज्ञानिक विकास के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण इकलौती घटना रही है।" मित्रा ने अपनी प्रयोगशाला में दो औद्योगिक योजनाएं शुरू कीं। पहली परियोजना माइक्रोफोनोनों और लाउडस्पीकरों के उत्पादन से संबंधित थी। उसके परिणामस्वरूप स्थानीय सामग्री की सहायता से कार्बन माइक्रोफोन और लाउडस्पीकर का निर्माण संभव हो सका। दूसरी योजना इलेक्ट्रान-नलिकाओं के उत्पादन से संबंधित थी। उसके कारण भारत में पहली बार रेडियो वाल्बों का निर्माण हो सका। उसके लिए आवश्यक तकनीकी-ज्ञान मित्रा की प्रयोगशाला में विकसित किया गया। यद्यपि यह योजना सन् 1954 में रोक दी गयी थी, पर इससे प्राप्त अनुभव और इसके लिए निर्मित उपकरणों की सहायता से रेडियो भौतिकी एवं इलेक्ट्रानिक्स संस्थान की प्रयोगशाला की स्थापना संभव हो सकी।

सन् 1955 में मित्रा कलकत्ता विश्वविद्यालय से सेवा निवृत्त हो गए। उन्हें विश्वविद्यालय ने अवकाश प्राप्त प्रोफेसर नियुक्त किया। पश्चिम बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री ने उन्हें पश्चिम बंगाल माध्यमिक शिक्षा परिषद का अध्यक्ष बनने के लिए प्रेरित किया। मित्रा ने जिस समय परिषद का प्रशासनिक दायित्व संभाला, उस समय उसकी स्थिति अच्छी नहीं थी। बहुत ही कम समय में मित्रा ने बोर्ड को एक कार्यकुशल संगठन का रूप दे दिया। उनके प्रशासन काल में ही बोर्ड ने सन् 1957 में स्कूलों में उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रम शामिल किया। उल्लेखनीय है कि 'स्कूल-फाइनल' से उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रम में संक्रमण न केवल कठिनाईयों से भरा हुआ था, बल्कि मित्रा को इस परिवर्तन को व्यावहारिक रूप देने के लिए काफी कम समय दिया गया था, इसके बावजूद वह परीक्षा समय से कराने में सफल रहे।

मित्रा सन् 1935 में भारतीय विज्ञान कांग्रेस संघ (इंडियन साइंस कांग्रेस



चार्ल्स फ्रेन्की

एसोसिएशन) के स्थानीय सचिव बनने के समय से ही उस संस्था से घनिष्ठ ढंग से जुड़े रहे। सन् 1938 में सर जेम्स जॉन की अध्यक्षता में कलकत्ता में आयोजित विज्ञान कांग्रेस का रजत जयंती सत्र काफी हद तक मित्रा के कठोर परिश्रम और सांगठनिक कौशल के कारण ही सफल हो सका। उन्होंने सन् 1939 से 1944 तक आईएससीए के महासचिव के रूप में कार्य किया। सन् 1958 में जब भौतिकी और गणित को एक ही विभाग में शामिल किया गया, तो मित्रा विभागीय अध्यक्ष चुने गए।

सन् 1955 में वह संस्था के अध्यक्ष चुने गए। बीसवीं सदी के दूसरे दशक के पूर्वार्ध से ही मित्रा इंडियन एसोसिएशन फॉर द कल्टिवेशन ऑफ साइंस से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे। उन दिनों वह सी. वी. रमन के अधीन कार्य करते थे। वह एसोसिएशन कैसे कई स्तरों पर जुड़े रहे। उन्होंने संस्था के सचिव, परिषद सदस्य, उपाध्यक्ष और ट्रस्टी के रूप में कार्य किया। मित्रा ने इंडियन साइंस न्यूज एसोसिएशन की स्थापना के समय से ही उसकी गतिविधियों के विस्तार में एम.एन. साहा के साथ मिलकर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और उसके सचिव संपादक, उपाध्यक्ष और न्यास-सदस्य के रूप

में कार्य किया। उन्होंने एसोसिएशन के जर्नल 'साइंस एंड कल्चर' के स्तर और प्रसार को सुधारने में काफी सहयोग दिया। वह नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस (बाद में उसका नाम इंडियन नेशनल साइंस अकादमी रखा गया) के संस्थापक सदस्यों में से एक थे। वह सन् 1956 में इसके अध्यक्ष बनाए गए। सन् 1951-52 के दौरान उन्होंने एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के अध्यक्ष के रूप में काम किया।

मित्रा अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे। अपनी पत्नी की असामयिक मृत्यु के बाद उन्हें अपने बच्चों की देखभाल भी करनी पड़ी। उन्होंने अपनी विज्ञान-संबंधी गतिविधियों में कोई बाधा डाले बिना इस अतिरिक्त दायित्व का भी निर्वाह किया। विज्ञान संबंधी गतिविधियों के अलावा मित्रा समय बिताने के लिए केवल शतरंज खेला करते थे। रविवार के दिन वह अपने मित्रों के साथ घंटों शतरंज खेला करते थे। मित्रा की व्यक्तिगत विशेषताओं के बारे में जे.एन. भर ने लिखा है, "प्रत्यक्ष तौर पर ही गंभीर दिखने वाले प्रोफेसर मित्रा अपनी बातचीत और क्रियाकलापों में अत्यंत संगठित थे। अपने आसपास के लोगों को उन्होंने अपनी अनुशासनप्रियता, अनुकरणीय कर्तव्यपरायणता, कर्तव्यबोध और स्वयं के तथा अपने अधीनस्थों के कार्यों में परिशुद्धता और परिपूर्णता लाने के प्रति अपने दायित्व बोध और सरोकार से प्रभावित किया। उनके स्वभाव में निहित समय की पाबंदी के बारे में सहयोगी मजाक में कहा करते थे कि उनकी (मित्रा की) गतिविधियों को देखकर समय का पता लगाया जा सकता है। घर हो या दफ्तर - नियमों और अनुशासन का वह इतनी ईमानदारी से निर्वाह करते थे कि उनके अधीनस्थ भी आश्चर्यचकित हो जाया करते थे। उनकी व्यवस्था-प्रियता, स्पष्टता और सौंदर्य बोध का अनुभव जीवन के सभी क्षेत्रों में आसानी से किया जा सकता था। संक्षेप में वचन, कर्म के व्यवहार और प्रस्तुति के प्रति उनकी सावधानी और दूसरों के साथ उनका व्यवहार असाधारण था। निश्चित रूप से स्वच्छता उनकी जीवन शैली थी।"



गुगलिलमो मारकोनी



सिडनी चैपमैन

मित्रा को अनेक सम्मान मिले। सन् 1935 में उन्हें किंग जार्ज रजत जयंती पदक मिला। सन् 1943 में उन्हें इंडियन एसोसिएशन फार द कल्टिवेशन ऑफ साइंस का जॉय किशन मुखर्जी स्वर्ण पदक और सन् 1956 में एशियाटिक सोसाइटी का साइंस कांग्रेस (कलकत्ता) पदक मिला। सन् 1958 में उन्हें रॉयल सोसाइटी लंदन का फेलो चुना गया। उन्हें यह सम्मान ऊपरी वायुमंडल संबंधी उनके कार्य के लिए दिया गया। सन् 1962 में उन्हें राष्ट्रपति ने पद्मभूषण सम्मान दिया।

अप्रैल 1963 में मित्रा राष्ट्रीय अनुसंधान प्रोफेसर नियुक्त किए गए। उन्होंने इस अवसर का लाभ ऊपरी ऐटमोस्फियर का तीसरा संशोधित संस्करण तैयार करके उताना चाहा। पर ऐसा नहीं हो सका। रेडियो अनुसंधान के क्षेत्र के उस अगुवा का 13 अगस्त, 1963 को निधन हो गया। अपने पीछे वह दो अधूरे कार्य छोड़ गए। इनमें से एक तो ऊपरी ऐटमोस्फियर के तीसरे संशोधित संस्करण को तैयार करने का काम था, इसके अलावा वह स्नातकोत्तर कक्षाओं में क्वांटम यांत्रिकी के बारे में दिए गए अपने व्याख्यानों के आधार पर एक पाठ्य पुस्तक भी तैयार करना चाहते थे।

पढ़ने योग्य अन्य पुस्तकें

1. बॉयग्राफिकल मेमोयर्स ऑफ फेलोज ऑफ नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंसेज ऑफ इंडिया, खंड 1, नई दिल्ली, 1966 में जे.एन. भर लिखित शिशिर कुमार मित्रा।
2. रिजोनेंस, जुलाई 2000 में ए.पी. मित्रा लिखित शिशिर कुमार मित्रा।
3. रिजोनेंस, जुलाई 2000 में मृणाल कुमार दास गुप्ता लिखित, प्रोफेसर शिशिर मित्रा - ऐज आई रिमेंबर हिम।
4. रिजोनेंस, जुलाई 2000 में आर.एस. दाबस लिखित आयनोस्फियर एंड इट्स इंप्लुएंस ऑन रेडियो कम्युनिकेशन



गणितज्ञ पोप

गेरबर्ट ने यूरोप में संभवतः पहली बार हिन्दू-अरबी अंकों की उपयोगिता के बारे में पढ़ाकर गणित के इतिहास में अपना नाम लिखवा लिया है। मध्य फ्रांस के ऑरिलैक में जन्मे (954-1003) गेरबर्ट ने स्पेन और इटली में शिक्षा प्राप्त की।

किसान परिवार से संबंध रखने वाले गेरबर्ट को 18 वर्ष की आयु में सुप्रसिद्ध बेनेडिक्ट ऑर्डर के द्वारा चर्च की सेवा करने के लिए उन्होंने पहले सांता मारिया डे रिपोल में और उसके बाद रेइम्स और रेवेन्ना के कैथेड्रल विद्यालयों में गणित-ज्यामिति, खगोल विज्ञान, अंकगणित एवं संगीत सीखा।

गणित में उनके योगदानों में निम्नलिखित का उल्लेख किया जाता है : यूरोप में शून्य का अंगीकार, 27 दशमलव स्थानों तक स्थितिसूचक पद्धति को अपनाने वाला उनका शीर्षफलक, अरबी अंकों को प्रस्तुत करता हुआ एक मानक पाठ्य पुस्तक तथा घड़ी का आविष्कार।

गेरबर्ट ने अंकगणित एवं ज्यामिति दोनों पर लिखा और बाएथियस डे अरिथमेटिका के साथ जर्मनी के सम्राट ओटो-3 से सम्पर्क किया। सम्राट ने उनको गणित पढ़ाने के लिए आमंत्रित किया तथा सन् 997 में अपने दरबार में सलाहकार, शिक्षक और पुरोहित के रूप में नियुक्त कर लिया। अगले ही वर्ष उनको प्रोन्नत करके रेवेन्ना का आर्कबिशप बना दिया गया। जब सन् 999 में पोप ग्रेगोरी पंचम की मृत्यु हुई, तब सम्राट ओटो ने ईटर डे (9 अप्रैल, 999) को गेरबर्ट को पोप चुनकर पोपतंत्र पर नियंत्रण स्थापित करने का



गेबर्ट

निर्णय किया। वे पहले फ्रांसीसी पोप थे। उनका नाम सिलवेस्टर-II रखा गया। गेरबर्ट एक निपुण कूटनीतिज्ञ साबित हुए। उन्होंने वर्ष 1000 में हंगरी के शासक किंग स्टीफन को अपने कूटनीतिक कदम से अलंकृत किया। हंगरीवासियों ने 2000 में किंग स्टीफन और उसके ताज की शताब्दी मनायी।

कैलेन्डर अचानक जटिल रोमन अंक DCCCCXCIX से सरल स्थितिसूचक पद्धति में परिवर्तित हो गया।

द मैथेमेटिकल इंटेलिजेन्सर का कहना है कि "निष्कर्ष रूप में यह कहना मनोरंजक है कि एक गणितज्ञ पोप ने शून्य से परिचित कराकर 'वाई-1 के' समस्या का समाधान किया।" 13वीं शताब्दी के पहले तक यूरोप में शून्य को अपनाने की प्रक्रिया काफी धीमी थी, लेकिन अरबी पद्धति के निश्चित प्रवेश के बाद यह प्रक्रिया तीव्र हुई।

इस गणितज्ञ पोप का दाहिना हाथ पारम्परिक आशीर्वाद देने की मुद्रा में नहीं उठ पाता था बल्कि व्याख्यान देने की मुद्रा में लगता था। गेरबर्ट ने अपना कैरियर एक गणितज्ञ के रूप में काफी संक्षिप्त तरीके से समाप्त किया, इस दौरान वे 'आर से आर से आर' अर्थात् रेइम्स से रेवेन्ना से रोम से होकर गुजरे।

स्रोत : द मैथेमेटिकल इंटेलिजेन्सर, वॉल्यूम 22, 2000)

प्रो. आर. पार्थसारथी चेन्नई में रहते हैं : (प्लेट नं. 42, हेवरली, रामनगर, चेन्नई - 600042)



सरसों के नन्हें दाने में सात समंदर

□ टी.वी. वेंकटेश्वरन

एक बार एक छोटा बच्चा बिना किसी स्पष्ट कारण के अचानक मर गया। बच्चे की शोकातुर मां बच्चे को गौतम बुद्ध के पास ले गयी, जो पास में ही पड़ाव डाले हुए थे, और उनसे बच्चे का जीवन बचाने का निवेदन किया। शोक संतप्त मां को दिलासा देने में असमर्थ रहने पर बुद्ध ने उसे ऐसे घर से एक मुट्ठी सरसों का दाना लाने के लिए कहा, जिसमें कभी किसी बच्चे, माता-पिता, दादा-दादी, पति-पत्नी, नौकर की मृत्यु न हुई हो और वह उस दाने से बच्चे को जिंदा कर देंगे।

युवा माता व्यग्र होकर गांव के घर-घर तक दौड़ने लगी, पर उसे घर निराशा हुई क्योंकि कहीं भी उसे इच्छित वस्तु नहीं मिल सकी। अंत में उसे यह स्पष्ट हो गया : मृत्यु को टाला नहीं जा सकता; सभी परिवारों को कभी न कभी

सरसोंयदि आपका विश्वास एक सरसों के बीज जैसा छोटा है तो आप इस पर्वत से कह सकते हैं, 'यहां से उठकर वहां जाओ' और यह चला जायेगा। (मैथ्यू 17:20)

इसका सामना करना पड़ता है। दुखी हृदय लेकिन शांत अंतःकरण से उसने इस सीख के लिए अपने गुरु को धन्यवाद दिया।

सरसों शताब्दियों से सर्वाधिक उगाया जाने वाला और प्रयोग किया जाने वाला मसाला रहा है। प्राचीन मिश्र से इसकी खेती की जाती थी, जहां से यह रोमन लोगों द्वारा यूरोप ले जाया गया। सरसों का इस्तेमाल खाने व चिकित्सा में भी किया जाता था। हिस्टीरिया, सांप के काटने से लेकर प्लेग तक के इलाज में इसका उपयोग किया जाता था। 1600 के मध्य में ग्लूसेस्टर शायर में ट्यूकेसबरी कस्बा अपने मोटे सहिजन सरसों के कारण काफी प्रसिद्ध हो गया था जो कि अंग्रेजी पाकशास्त्र का उमंग भरा दौर था, जैसा कि विलियम शेक्सपियर (स्वयं सरसों पसंद करने वाले) ने उस प्रसिद्ध सरसों का उदाहरण देते हुए लिखा :

“उसकी बुद्धि इतनी मोटी है जितना ट्यूकेसबरी सरसों!” (हेनरी IV, भाग II)। एक प्राचीन कवयित्री अवैय्यार ने तमिल सूक्ति ग्रंथ ‘थिरुकुरल’ की प्रशंसा में गाते हुए उसके छंदों की संक्षिप्तता और उससे प्राप्त विस्तृत संदेशों की तुलना करते हुए कहा कि जैसे सरसों के एक छोटे से दाने में सात समंदर समाहित का प्रयास किया गया हो।

उत्पत्ति

सरसों व मिर्च को विश्व के सबसे महत्वपूर्ण मसालों में से एक माना जाता है। यह कोई नहीं जानता कि सरसों की उत्पत्ति कहां हुई, एक पौधा जिसका प्रसार पक्षियों द्वारा हुआ और धीरे-धीरे यह उत्तरी गोलार्द्ध में फैल गया। इसकी खेती काफी पहले से की जाती है, यह प्रस्तर युग की बस्तियों में पाया गया और एशियाई मसाले के व्यापार के चरम पर पहुंचने से पहले यह यूरोपीयों द्वारा ज्ञात मुख्य मसाला था। भारत से लेकर मिश्र तथा रोम तक के प्राचीन लोग गोश्त के साथ मसाले के रूप में सरसों चबाते थे। यह नयी दुनिया तक कैसे पहुंचा इसकी एक रोचक कहानी है। इसकी कहानी यह है कि स्पेन के पादरी एक अभियान से दूसरे अभियान तक यात्रा करते समय सरसों का बीज बिखेरते जाते थे ताकि यात्रा मार्ग का चिन्ह बना रहे। वे जानते थे कि शीघ्र ही सरसों का पौधा निकल आएगा और उन्हें अपना मार्ग पहचानने में आसानी होगी।

सरसों के बीज का दुनिया भर में प्रसार हुआ। प्राचीन रोम में इसका इस्तेमाल मसाले व औषधि के रूप में होता था। बाइबल के नया नियम, मैथ्यू 13:31 में सरसों के एक दाने की तुलना स्वर्ग के राज्य से की गयी है। 800 ई. में पेरिस में इसकी फसल राजस्व प्राप्त करने के लिए उगायी जाती थी। वास्कोडीगामा 1497 में आशा अंतरीप से होकर अपनी पहली समुद्री यात्रा में सरसों लेकर

आया था। आज इसे प्रायः राष्ट्रों का मसाला कहते हैं क्योंकि इसका प्रयोग विश्व स्तर पर होता है। सरसों और भी श्रेय लेने का हकदार है। यह कम खर्चीलों में से एक है, इसकी मनोहर कहानी है और यह कई रंगों व रूपों में उपलब्ध है।

सरसों के प्रकार

सरसों की तीन प्रजातियां क्रिस परिवार की सदस्य हैं। **ब्रैसिका हिर्टा** सफेद या पीला बीज और **ब्रैसिका निग्रा** काला सरसों। ये दोनों दक्षिणी यूरोप और भूमध्यसागरीय क्षेत्र में पायी जाती हैं जबकि ब्रैसिका जंसिया या भूरा सरसों उत्तरी हिमालय क्षेत्र में पाया जाता है। वानस्पतिक रूप से भिन्न लेकिन खाने में समान रूप से उपयोगी प्रजातियां हैं। पूर्वी यूरोप में पाया जाने वाला **सरेप्टा मस्टर्ड** अथवा **रोमानियन ब्राउन मस्टर्ड** (भूरा जंसिया) और भारत व मध्य यूरोप की **भूरा निग्रा** व **भूरा कैम्पेस्ट्रिस** के संकर से उत्पन्न प्रजाति **इंडियन ब्राउन मस्टर्ड** (भूरा इंडीग्रीफोलिया अथवा भूरा जंसिया)।

धूसर-हरा सरसों का पौधा दस फुट तक ऊंचा होता है, उनके चमकीले पीले फूल बड़े-बड़े खेतों को चकाचौंध कर देते हैं। सरसों के उगने की अवधि काफी छोटी 90 से 110 दिन तक होती है। उत्तरी गोलार्द्ध में बुवाई मुख्यतः मई

यद्यपि भूरे सरसों की तुलना में काला सरसों अधिक तीक्ष्ण होता है, लेकिन यूरोप में काला सरसों बड़ी मुश्किल से ही कहीं बोया हुआ दिखेगा और भूरा सरसों यूरोपीय बाजारों का प्रमुख उत्पाद है। इसका कारण यह है कि काले सरसों के विपरीत भूरा सरसों मशीनों से बोया जा सकता है जिससे ऐसे देशों में जहां श्रम शक्ति महंगा है उत्पादन सस्ता हो जाता है।

में की जाती है और अगस्त/सितम्बर में फसल काट ली जाती है। परिपक्व होने पर पौधा 3 से 4 फीट ऊंचा हो जाता है और उसमें पीले फूल आ जाते हैं। फूल

आने के बाद फलियों में बीज का तब तक विकास होता है जब तक फसल कटने के लिए तैयार नहीं हो जाती। सरसों का पौधा अपने छोटे-छोटे बीजों को फलियों में रखता है जो एक हद तक सेम या मटर जैसी होती हैं। सरसों का पौधा शीतोष्ण जलवायु में आसानी से उगता है और इसकी खेती पूरे दुनिया में की जाती है। सरसों की दो प्रजातियां व्यापक रूप से उगायी जाती हैं। लाल भूरा या काला बीज और हल्का पीला या सफेद। पीले सरसों में स्वादिष्ट, गिरी जैसी महक होती है जबकि काला सरसों तीक्ष्ण स्वाद वाला होता है।

व्युत्पत्ति

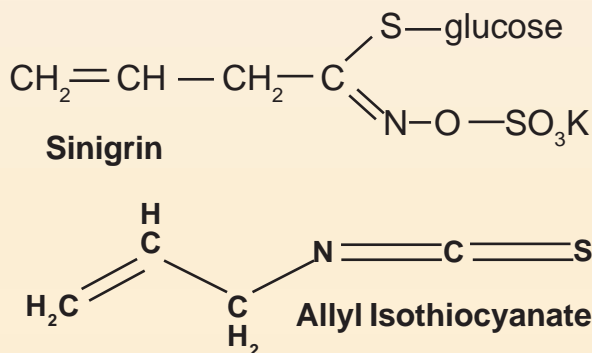
काला सरसों जिसका वैज्ञानिक नाम ब्रैसिका निग्रा (एल) कोच है, गुजराती में राई, हिन्दी में राई या लाल सरसों, तमिल में कादुगो और ग्रीक में मोस्ट्राडा कहलाता है। यह उसी ब्रैसीकेसिया परिवार से संबंधित है जिससे बंदगोभी भी संबंधित है। जर्मन सेफ लैटिन सिनापी से विकसित होता है जैसे कि प्राचीन अंग्रेजी, सेनेप (केंद्रीय व उत्तरी यूरोप में सरसों की लेई रोमनों द्वारा परिचित करायी गयी। इस शब्द की प्रारंभिक उत्पत्ति संभवतः मिस्र से हुई। मस्टर्ड (और रोमन भाषा में समान शब्द, और सरसों की लेई के लिए जर्मन मॉस्ट्रिच) शब्द लैटिन (विनम) मस्टम, “मस्ट” से आया है। उन शुरुआती दिनों में अकिण्वित अंगूर का रस एक लोकप्रिय पेय पदार्थ था और प्रायः सरसों के बीज के साथ परोसा जाता था। अकिण्वित अंगूर का यह रस “मस्ट” कहलाता था और सरसों के बीज के साथ इसे “मस्टम आर्डेन्स” कहते थे। इसको ही मस्टर्ड शब्द का मूल माना जा सकता है। सरसों के वानस्पतिक नाम ब्रैसिका का लैटिन में मतलब “बंदगोभी” होता है जो समान वंश का है।



प्रमुख घटक

सूखे बीज में कोई सुगंध नहीं होती, लेकिन कुछ देर चबाने के बाद तीखा स्वाद मिलता है। भुने हुए बीज में (अधिक धूसर रंग) तीखा, फली का सुगंध आता है। सरसों के चबाने पर तीखापन बीज में मौजूद वाष्पशील तेल के कारण होता है। सरसों का स्वाद व महक कई यौगिकों के कारण होता है जिसमें मुख्यरूप से आइसोथियोसाइनेट होते हैं। भूरे सरसों का सक्रिय मूल तत्व या वाष्पशील तेल भी एलिल आइसोथियोसाइनेट होता है जबकि सफेद या पीले सरसों का एक्रीनिल आइसोथियोसाइनेट। भूरे या सफेद सरसों के बीज में आवश्यक मूल तत्व उस प्रकार मौजूद नहीं रहते। सरसों के बीज में इन यौगिकों के पूर्ववर्ती रूप ग्लूकोसाइनोलेट्स (सिनीग्रिन) के रूप में मौजूद रहते हैं। उपयुक्त दशाओं में नमी की उपस्थिति में अपने संबंधित ग्लाइकोसाइड, सिनिग्रिन और सिनलबिन को जल अपघटन से आइसोथियोसाइनेट्स उत्पन्न होते हैं। इन पूर्ववर्ती तत्वों में कोई सुगंध या स्वाद नहीं होती लेकिन जल की उपस्थिति में ये जल-अपघटित होकर ग्लूकोज, पोटेशियम हाइड्रोजन सल्फेट और आइसोथियोसाइनेट (एलिल आइसोथियोसाइनेट, $\text{CH}_2=\text{CH}-\text{CH}_2-\text{NCS}$ में बदल जाता है। अंतिम यौगिक मंद वाष्पशील तरल होता है जिसमें खराब महक और कड़वा तीखा स्वाद होता है।

काले सरसों में लगभग 1 प्रतिशत सिनीग्रिन (एलिलग्लूकोसाइनोलेट) होता है जो ग्लूकोज के साथ एलिल आइसोथियोसाइनेट का एक थियोग्लाइकोसाइड जैसा यौगिक (एक ग्लूकोसाइनोलेट) होता है। माइरोसाइनेज एंजाइम की क्रिया से एक तीक्ष्ण, अश्रुजनक और वाष्पशील यौगिक एलिलआइसोथियोसाइनेट मुक्त



होता है (सूखे बीज का 0.7 प्रतिशत)। एलिलआइसोथियोसाइनेट के अतिरिक्त रोमेनियाई भूरे सरसों में एक और संबंधित यौगिक क्रोटिलिसोथियोसाइनेट (2-ब्यूटेनिलिसोथियोसाइनेट) पाया जाता है। सफेद सरसों, सहिजन, बसाबी, रॉकेट और क्रेस इन सभी का भी मुख्य संघटक आइसोथियोसाइनेट होता है, ये सभी तत्व एक वानस्पतिक परिवार से संबंधित हैं। इस वंश से सुदूर संबंध वाले करील की तीक्ष्णता भी आइसोथियोसाइनेट के कारण होती है। भूरे सरसों में पाया जाने वाला आइसोथियोसाइनेट एलिल आइसोथियोसाइनेट होता है। यह एक उच्च तीखा तथा थोड़ा सा कड़वे स्वाद वाला होता है। एक बार जब उत्प्रेरक क्रियाओं द्वारा उष्मा और सुगंध मुक्त होती है और यह परिरक्षी तत्वों को डालकर स्थिर की जाती है तो यह गर्म करने से प्रभावित नहीं होती।

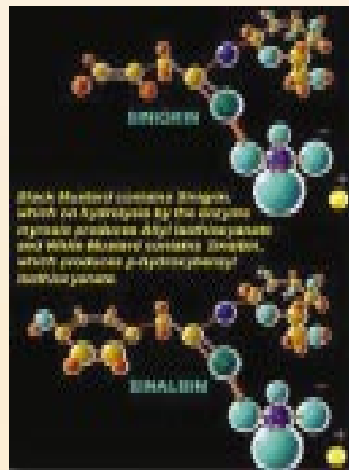
यह समझना भी महत्वपूर्ण होगा कि पीला सरसों प्राच्य/भूरे सरसों की तुलना में भिन्न आइसोथियोसाइनेट रखता है। पीले सरसों के बीज में उपस्थित आइसोथियोसाइनेट पैराहाइड्रॉक्सीबेंजिल आइसोथियोसाइनेट होता है। यह अवाष्पशील होता है और बिना तीखापन के खाने पर मुंह में जलन पैदा करता है। यह जलन अस्थायी होती है और धीरे-धीरे लगभग एक हफ्ते में जलयोजन के बाद खत्म हो जाता है इसके बाद अंडे जैसा मधुर स्वाद हो जाता है। यह ताप अपघटन उच्च ताप के द्वारा त्वरित किया जा सकता है लेकिन केवल तभी जब एंजाइम अभिक्रिया पूर्ण व स्थिर हो। इस प्रकार काले सरसों की लेई का तीखापन उतना स्थिर नहीं होता जितना कि सफेद सरसों का। लेकिन कुछ समय बाद

इसका ह्रास हो जाता है। इसका कारण यह है कि इसका तीक्ष्ण अवयव (एलिल आइसोथियोसाइनेट) वाष्पशील होता है और धीरे धीरे जल अपघटित हो जाता है।

आइसोथियोसाइनेट जो सभी सरसों के बीज में उपस्थित होता है और सरसों के लाक्षणिक सुगंध और जलन के लिए उत्तरदायी होता है सुगर और सल्फेट साल्ट के साथ एक रासायनिक बंध बनाता है, इस प्रकार इसे विकृत होने से बचाया जाता है। सरसों में जल मिलाने से एक एंजाइम माइरोसिनेज सक्रिय हो जाता है जो रासायनिक बंध को तोड़ देता है। जलयोजन से आइसोथियोसाइनेट मुक्त होता है और सरसों से जुड़ी सुगंध व जलन विकसित होता है। अनुकूलतम दशाओं (कमरे के तापमान और उदासीन pH का द्रव (जल) लेई बनाने में इस्तेमाल होता है) पूर्ण सुगंध का विकास सिर्फ 10 मिनट के भीतर हो सकता है।

ध्यान देने की बात है कि आइसोथियोसाइनेट उच्च विषाक्त होता है और रासायनिक हथियारों के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है जो कि सरसों के पौधे में दूसरे रूप में उपयोगी होता है। आइसोथियोसाइनेट से पौधे अवयवों की रक्षा के लिए वे ग्लाइकोसिडिक रूप से जुड़कर ग्लूकोसाइनोलेट्स (पहले थियोग्लाइकोसाइड कहलाता था) के रूप में हो जाते हैं और तभी मुक्त होते हैं

जब कोशिकाएं नष्ट होती हैं (उदाहरणस्वरूप एक जानवर के खाने से होने वाला नुकसान)। यह विशेष रूप से मानव के लिए विषाक्त नहीं होता (मुख LD₅₀ लगभग 300 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम शरीर के वजन), लेकिन त्वचा तथा श्लेष्मल झिल्ली के लिए यह तीव्र प्रदाहक होता है। प्रथम विश्व युद्ध में इसका प्रयोग असफल रहा। हालांकि एलिल आइसोथियोसाइनेट को मस्टर्ड गैस नहीं समझना चाहिए जो इससे कुछ अलग होता है। (इसका नाम मस्टर्ड गैस इसलिए पड़ा क्योंकि इसमें डाली गयी अशुद्धियों की महक सरसों जैसी



होती है)। एलिल आइसोथियोसाइनेट प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि इसे सरसों के बीज से निकाला जाय। एलिल आयोडायड और पोटेशियम थियोसाइनेट से इसे आसानी से संश्लेषित किया जा सकता है।

सरसों का तेल

सभी बीजों की तरह सरसों के बीज में भी वसा तेल की पर्याप्त मात्रा (30 प्रतिशत) होती है, जो कि खाना पकाने के लिए व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। सरसों का तेल एक रंगहीन या हल्का पीला तरल होता है जिसमें तीक्ष्ण, बेधक, कड़वी सुगंध होती है। काला सरसों, विशेषकर भारत में मसाले के रूप में व तेल प्राप्त करने के लिए ज्यादा महत्वपूर्ण है। सरसों का तेल समूचे उत्तर भारत में लोकप्रिय है और बंगाली व्यंजनों के वास्तविक स्वाद के लिए अपरिहार्य, लेकिन चूकि इसमें विषकारी आइसोथियोसाइनेट होता है अतः इसमें कोई भी खाना पकाने से पूर्व इसे खूब गर्म करना चाहिए (जब तक कि कुछ धुंआ न निकल आये); अन्यथा यह स्वास्थ्य के लिए हानिकर हो सकता है। लिनोलेइक और लिनोलेनिक अम्लों के ग्लिसराइड के अतिरिक्त सरसों के तेल में एरुकिक एसिड के ग्लिसराइड होते हैं जो मानव स्वास्थ्य के लिए हानिकर माने जाते हैं; इसके अतिरिक्त सरसों के तेल में मुक्त आइसोथियोसाइनेट के भी अंश पाये जाते हैं।

इसलिए असंतृप्त वसीय अम्लों की उच्च मात्रा के बावजूद (आयोडीन सूचक 105) सरसों के तेल को बिना गुणवत्ता के खाना पकाने के लिए नहीं इस्तेमाल करना चाहिए। हालांकि सरसों का तेल डब्ल्यू-3 वसीय अम्लों से परिपूर्ण होता है जो रक्त के थक्का जमने की प्रवृत्ति को घटाता है।

शेष पृष्ठ... 15

सम्पीडन-डिजिटल क्रांति की मूल कुंजी

□ राकेश कुमार सिंह

यह लेख इस बात का विश्लेषण करता है कि क्या सम्पीडन के बिना डिजिटल क्रान्ति संभव है? सामान्यतः सम्पीडन जटिल अंकगणित के साथ संबद्ध है। लेकिन इस लेख में सम्पीडन के मूल दर्शन को आमामान सन्तरे के रस की सादृश्यता से समझाने का प्रयास किया गया है। सम्पीडन के विभिन्न पहलुओं की अवधारणा नक्शों की सहायता से बतायी गई है। सम्पीडन प्रक्रिया बहुत सी रुकावटों से मुक्त नहीं है। लेख कमियों की चर्चा के साथ-साथ सम्पीडन को सफल बनाने वाली सावधानियों का भी सुझाव देता है।

हममें से सभी सम्पीडन 'कॉम्पेशन' शब्द के विभिन्न रूपों से वाकिफ़ हैं। सम्पीडन प्रक्रिया के रासायनिक, यांत्रिक, सिविल और धातु विज्ञान में भिन्न अर्थ होते हैं। लेकिन जैसे ही हम इलेक्ट्रॉनिक अभियांत्रिकी के संदर्भ में सम्पीडन के बारे में सोचते हैं एक शब्द जो हमारे ज़हन में आता है वह है "अंकीय" (डिजिटल)। आजकल यह कहना एक आम बात बन गई है कि समस्त इलेक्ट्रॉनिक संचार एक डिजिटल क्रांति में लगा हुआ है। इससे पहले कि हम डिजिटल क्रांति पर सम्पीडन के प्रभाव की चर्चा करें, हमें डिजिटल क्रांति का विश्लेषण कर लेना चाहिए।

डिजिटल क्रांति

सभी संवेदी संकेत दृश्य एवं श्रव्य संकेतों समेत प्रवर्तन या प्रत्यक्ष ज्ञान के समय तुल्यरूप होते हैं यद्यपि तुल्यरूप प्रणाली दशकों से प्रयोग में है लेकिन व्याप्त निम्नलिखित कमियों को टाला नहीं जा सका है :

- प्रसारण शृंखला के दौरान संकेतों के स्वरूप को मूल संकेतों की तरह बनाए रखने की कठिनाई।
- प्रसारण प्रणाली के दौरान फेज़ तथा विस्तार में विकृति आने से तस्वीर की गुणवत्ता प्रभावित होती है।
- परिपथों की अभिकल्पना में विशेष ध्यान की आवश्यकता होती है ताकि यह विकृतियों के प्रबन्धन के अनुपात में सीमित हों परन्तु इससे पूरी प्रणाली की कीमत ज्यादा होने की संभावना हो जाती है। डिजिटल प्रणाली में सर्वप्रथम मूल संकेतों के तुल्यरूप को सैम्पलिंग और क्वैन्टाइज़ेशन प्रक्रिया की मदद से 'शून्य' और 'एक' के अनुक्रम में परिवर्तित किया जाता है। इन "शून्य" और "एक" को बिट्स कहा जाता है। सूचना के तुल्यरूप संकेतों को अंकीय रूप में परिवर्तित करने का मुख्य लाभ '0' और '1' की बिट धारा का सशक्त होना है। शर्त सिर्फ़ यह है कि '0' बिट और '1' बिट को अलग-अलग पहचाना जा सके।

डिजिटल क्रांति से बहुत से लाभ हुए हैं किन्तु इसे बिना संकोच ग्रहण करने के दो मुख्य कारण हैं :

- एक क्षेत्र की विशेष तकनीकों द्वारा संभव विभिन्न प्रणाली के संघटकों को अधिक किफ़ायती और ठोस तरह से प्रतिवर्तित करना संभव बनाया।
- संबंधित तुल्यरूप हल की तुलना में बैंडचौड़ाई प्रयोग में शुद्ध बचत।
- संगीत रिकार्ड, ध्वनि दूरभाषिता और उपग्रह प्रसारण के क्षेत्र में डिजिटल क्रांति के कुछ उदाहरण निम्न हैं :

- विनायल डिस्क, फोनोग्राफ़ सिलिन्डर आदि सौ वर्षों से भी अधिक से चले आ रहे हैं लेकिन अब सीडी बहुतायत में आ गई हैं।
- एनॉलॉग स्पीच 100 वर्षों से भी अधिक समय से प्रचलित हैं लेकिन अब अरबों लोगों द्वारा पी.सी.एम. पद्धति का प्रयोग किया जाता है।
- एनॉलॉग उपग्रह टेलीविज़न दो दशकों से भी अधिक से प्रचलन में है पर अब डिजिटल टेलीविज़न करोड़ों लोगों द्वारा देखा जाता है।

ऊपर लिखे तथ्यों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सस्ते संघटित परिपथ, तीव्र गति संचार संजाल, तेज़ प्राप्ति सघन संचयन मीडिया और परिकलन संरचना जो दृश्य रेट डाटा को आसानी से चला सकते हैं, अब एनॉलॉग मानक को तेज़ी से लुप्त कर रहे हैं।

डिजिटल श्रव्य एवं दृश्य संकेतों ने कम्प्यूटर और संचार तंत्र के साथ डिजिटल क्रांति जागृत की। इस क्रांति की मूल कुंजी सम्पीडन है क्योंकि इसके बिना संभवतः क्रांति संभव नहीं है। डिजिटल क्रांति के लिए सम्पीडन उसी प्रकार कार्य करता है जैसे कि दिल मानव शरीर को जीवित रखने के लिए।

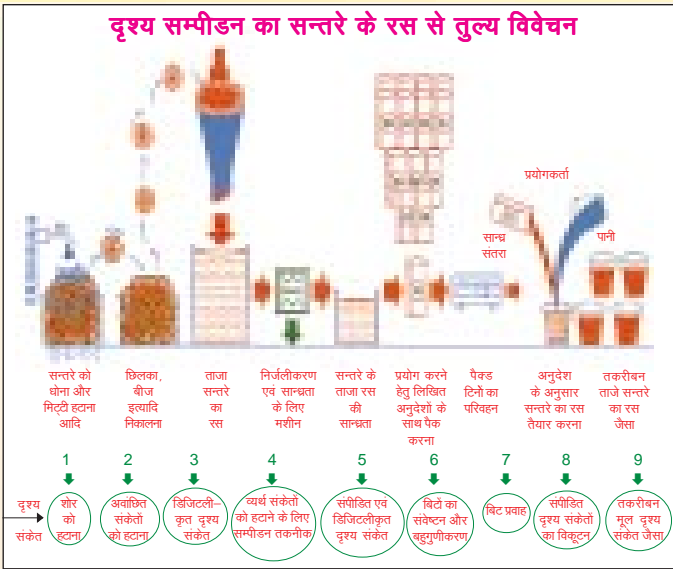
सम्पीडन के बिना डिजिटल क्रांति – क्या संभव है?

डिजिटलीकरण का तात्पर्य है तुल्यरूप संकेतों के नमूने बनाना तथा हर नमूने की मात्रा निर्धारित करके तुल्यरूप संकेतों को बिट धारा में परिवर्तित करना। आसान डिजिटलीकरण के बाद हमें दृश्य संकेतों की स्थिति की जांच करनी चाहिए। दृश्य संकेत को अन्तर्राष्ट्रीय मानक सी.सी.आई.आर. रेकमेन्डेशन 60 के अनुरूप डिजिटल रूप में परिवर्तित किया जाता है। तीन स्रोत संकेत अर्थात् प्रदीप्त संकेत वाई और द्विवर्ण भेदी संकेत (क्रॉमिनेन्स) सी.आर. और सी.बी.को 8 बिट पी.सी.एम. कोडिंग से डिजिटलीय परिवर्तक (ए.डी.सी.) में परिवर्तित किया जाता है।

वाई संकेतों के नमूने 1.35 करोड़ प्रति सेकंड की दर से लिए जाते हैं। जबकि सी.आर. और सी.बी. नमूनों को 67.5 लाख प्रति सेकंड की दर से बनाया जाता है। इस प्रकार 3 ए.डी.सी. के उत्पाद को प्रति सेकंड 21.6 करोड़ की बिट दर से इकहरी बिट शृंखला बनाने के लिए बहुगुणित किया जाता है।

टी.वी. प्रसारण के लिए बैंड चौड़ाई विनियोजन केवल 7 एम.एच. जेड (वी.एच.एफ) और 8 एम.एच.जेड (यू.एच.एफ.) है। अतः दृश्य संकेत के साधारण डिजिटलीकरण की बैंड चौड़ाई में वृहद् विस्तार हो जाता है। दृश्य सूचना के संचय में कठिनाई इस उच्च आंकड़े दर पर

दृश्य सम्पीडन का सन्तरे के रस से तुल्य विवेचन



चित्र : 1

सहज ही परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ एक फ्लॉपी डिस्क में लगभग 1.44 मेगाबाइट्स अथवा 1.5 मेगाबाइट्स आंकड़े होते हैं। सौ मिनट की विशेष फिल्म के लिए एक लाख से अधिक फ्लॉपी डिस्कों की आवश्यकता होगी।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि दृश्य प्रवाह के संचयन हेतु बहुत अधिक जगह की आवश्यकता होगी। इसके लिए मेगाबिट डाटा दर को उपलब्ध कराने हेतु संजाल की आवश्यकता पड़ेगी। हालांकि यह आधुनिक हार्डवेयर के लिए तकनीकी रूप से संभव है किन्तु आर्थिक रूप से

तर्कसंगत नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि केवल साधारण डिजिटलीकरण से डिजिटल क्रांति संभव नहीं है।

दृश्य एवं श्रव्य संकेतों में बहुत सी जानकारी गैर जरूरी होती है अतः साधारण डिजिटलीकरण के पश्चात् दृश्य एवं श्रव्य संकेतों में बड़ी मात्रा में ऐसे बिट्स होते हैं जिन्हें संकेतों की गुणवत्ता को कम किए बिना हटाया जा सकता है। जिस प्रक्रिया द्वारा इन गैरजरूरी बिट्स को हटाया जाता है उसे "सम्पीडन" के रूप में जाना जाता है।

टेलीविज़न प्रसारण में दृश्य संकेतों को आसान डिजिटलीकरण करने से 216×10^6 बिट्स प्रति सेकेंड प्राप्त होते हैं। परन्तु सम्पीडन द्वारा इन्हें 7 या 8×10^6 बिट्स प्रति सेकेंड में परिवर्तित कर दिया जाता है।

इसी तरह एक सीडी पर साधारण डिजिटलीकरण द्वारा 7 या 8 गाने ही रिकार्ड किए जाते हैं परन्तु सम्पीडन विधि अपनाने पर इसी सीडी पर 107 से अधिक गाने उसी गुणवत्ता के रिकार्ड किए जाते हैं। यहां इस आश्चर्यजनक एवं आकर्षक तकनीक को सरल रूप में बताने का प्रयास किया गया है।

दृश्य संपीडन अवधारणा को समझने का आसान तरीका – संतरे के रस का तुल्य विवेचन

यहां प्रस्तुत संतरे के रस के तुल्य विवेचन से संपूर्ण दृश्य संपीडन प्रक्रिया को आसानी से समझा जा सकता है।

मान लीजिए आप संतरे के बहुत बड़े बाग के मालिक हैं। संतरे की बहुत अच्छी फसल के कारण आपके क्षेत्र में संतरे के दाम में गिरावट आ गई है। आपको अपने क्षेत्र में संतरे बेचने से नुकसान हो सकता है। लाभ कमाने के लिए आप निर्णय करते हैं कि संतरे का गूदा

संतरे

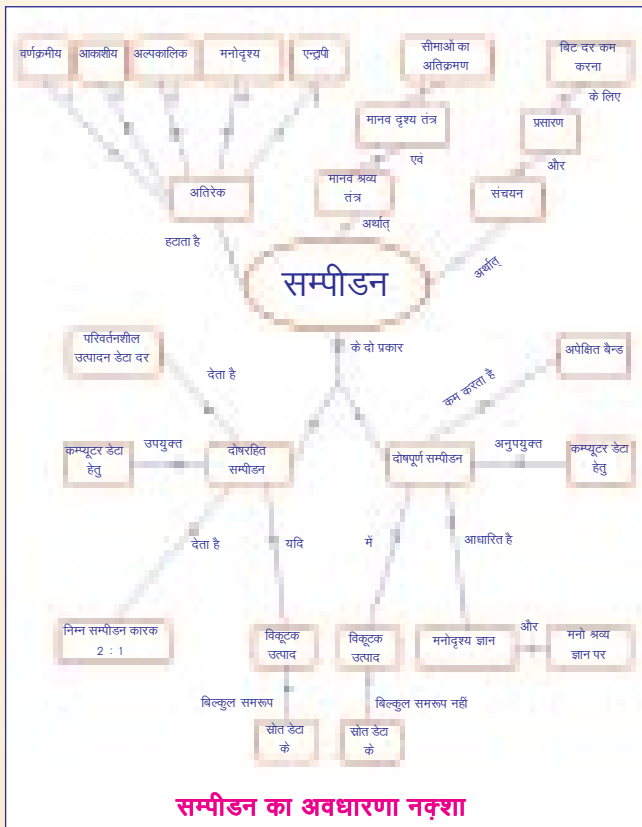
1. धूल हटाने आदि के लिए संतरे धोना अन्यथा ये संतरे के रस को खराब कर सकते हैं।
2. संतरे से छिलका एवं बीज हटाना।
3. निचोड़ने की प्रक्रिया द्वारा संतरे का रस तैयार करना।
4. संतरे के रस में पानी की अधिकता। संतरे के रस से बिना गुणवत्ता को प्रभावित किए अनावश्यक पानी को निकालने के लिए एक महंगे संयंत्र का प्रयोग किया जाता है।
5. संयंत्र का उत्पाद संतरे के रस का गूदा है जिसकी मात्रा संतरे के रस की मात्रा से बहुत कम होती है जो संयंत्र में होती है।
6. संतरे का गूदा छोटे डिब्बों में पैक किया जाता है। आवश्यक सूचना जैसे कंपनी का नाम, सामग्री का विवरण, वज़न, ताज़े संतरे के रस जैसा बनाने तथा प्रयोग करने के लिए निर्देश डिब्बे पर अंकित रहते हैं।
7. ये छोटे बंद डिब्बे बड़े डिब्बों में संचयन/परिवहन के लिए पैक किए जाते हैं। बड़े डिब्बों में छोटे डिब्बे कुछ वाहनों द्वारा भेजे जाते हैं।
8. उपभोक्ता ताज़े संतरे के जैसा रस तैयार करने के लिए डिब्बे पर लिखे अनुदेशों का पालन करता है। इसके लिए उसे सही मात्रा में पानी और बर्फ आदि मिलाने की आवश्यकता होती है।
9. गूदे से संतरे का रस बनाने की प्रक्रिया संतरे के रस से गूदा बनाने की प्रक्रिया की तुलना में बहुत आसान है।
10. उत्पादक यह विनिर्दिष्ट नहीं करते कि गूदा किस प्रकार तैयार किया गया है। यह उनके व्यापार का रहस्य है। वे केवल उसकी सामग्री विनिर्दिष्ट करते हैं और यह निर्देश देते हैं कि गूदे से संतरे का रस कैसे बनाया जाए।
11. संतरे का गूदा आई.एस.आई. आदि के मानक विनिर्देशन के आधार पर तैयार किया जाता है।

दृश्य संकेत

1. दृश्य संकेत से अवांछित शोर आदि हटाने के लिए छानना अन्यथा ये दृश्य संकेत को बर्बाद कर सकते हैं।
2. दृश्य संकेत से अवांछित सूचना हटाना।
3. डिजिटलीकरण की प्रक्रिया के द्वारा अनुरूप दृश्य संकेत को डिजिटल संकेत में बदलना।
4. दृश्य संकेत में काफी सूचना अनावश्यक होती है। गुणवत्ता को प्रभावित किए बिना डिजिटलीकृत दृश्य संकेत से विभिन्न प्रकार की अतिरिक्त सूचना को हटाने के लिए एक महंगे इनकोडर का प्रयोग किया जाता है।
5. इनकोडर का उत्पाद संपीडन डिजिटलीकृत दृश्य संकेत हैं जिनके बिटों की संख्या इनकोडर में निवेशित डिजिटलीकृत दृश्य संकेतों से बहुत कम होती है।
6. संपीडित डिजिटलीकृत दृश्य संकेतों के बिटों को कई छोटे समूहों में परिवर्तित किया जाता है। हर पैकेट के शीर्ष पर आवश्यक सूचना जैसे नाम, बिटों की संख्या और एकदम मूल दृश्य संकेत जैसा बनाने के लिए विकृटन से संबंधित निर्देश अंकित होते हैं।
7. बिटों के पैकेटों को चित्रों का समूह बनाने के लिए बहुगुणित किया जाता है। ये अब हार्ड डिस्क में संचयन के लिए अथवा संवाहक पर अनुकूलन द्वारा प्रसारण के लिए तैयार होते हैं।
8. विकृटन पैकेटों को प्राप्त करने पर शीर्ष पर अंकित सूचना के अनुसार संपीडित बिटों को बिल्कुल मूल दृश्य संकेतों में बदल देता है।
9. दृश्य संकेत में संपीडित बिटों के बदलने की विकृटन प्रक्रिया कूटन प्रक्रिया की अपेक्षा आसान है। अतः विकृटन कूटकों की अपेक्षा सस्ते और कम जटिल होते हैं।
10. कूटक काले बक्से की तरह है। उत्पादक यह नहीं विनिर्दिष्ट करता है कि कूट किस प्रकार बनाए गए हैं। यह उनके कार्य का रहस्य है। केवल बिट प्रवाह एवं विकृटन आरूप का वर्णन होता है।
11. संपीडन प्रक्रिया को अन्तर्राष्ट्रीय मानकों जे.पी.जी., एम.पी.ई.जी., एच 261

निकालकर आप विदेशों में निर्यात करेंगे। चित्र 1 उपभोक्ता द्वारा संतरे के रस के उपभोग तक की संपूर्ण प्रक्रिया को वर्णित करता है। यह प्रक्रिया दृश्य संकेत संपीडन प्रक्रिया के बिल्कुल समान है। यहां पर संतरों को दृश्य संकेतों के तुल्य माना गया है। तुल्य विवेचना के लिए देखें चित्र 1

यह संपूर्ण दृश्य संपीडन प्रक्रिया संतरे के रस के तुल्य विवेचन से स्पष्ट की गई है। अब हमें संपीडन को अधिक तकनीकी तरीके से विश्लेषण करना है।



सम्पीडन का अवधारणा नक्शा

चित्र : 2

संपीडन का अर्थ

चित्र 2 पर संपीडन की अवधारणा चित्र का संदर्भ लें। इसमें संपीडन की परिभाषा को भिन्न रूपों में बताने का प्रयास किया गया है। संपीडन का अन्तिम उद्देश्य है संचयन एवं प्रसारण के लिए बिट दर को कम करना। संपीडन का अर्थ है संकेत से अतिरेक हो हटाना। जैसा कि अवधारणा नक्शा (चित्र 3) में दर्शाया गया है। दृश्य संकेत में अतिरेक को निम्नलिखित तरीके से वर्गीकृत किया जा सकता है।

1) **वर्णक्रमीय अतिरेक** : दृश्य कैमरों से आने वाले आर.जी.बी. संकेत काफी सहसंबद्ध होते हैं और ज्यादा बैंड चौड़ाई लेते हैं। मानव प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित दृश्य नमूना आंकड़े की मात्रा को कम करने के लिए आर.जी.बी. वर्ण अंतर को वाई.सी.आर., सी.बी. वर्ण अन्तर में परिवर्तित किया जाता है। वाई (प्रकाश) के पास पूरी बैंड चौड़ाई होती है और यह मानव दृष्टि के लिए काफी संवेदनशील

होती है। सी.आर. और सी.बी. वर्ण संबंधी संघटक में कम बैंड चौड़ाई होती है और यह मानव नेत्रों के लिए अपेक्षाकृत कम संवेदनशील होते हैं। सी.आर. और सी.बी. संघटक को सामान्यतः 2 से दशमलवित किया जाता है – उर्ध्व एवं क्षैतिज दोनों तरह से, जिसके परिणामस्वरूप नमूनों की संख्या कम हो जाती है।

2) **आकाशीय अतिरेक** : किसी तस्वीर के कुछ भागों में समान मूल्य के पिक्सल होते हैं। यह अतिरेक होते हैं और प्रेषित करने की आवश्यकता नहीं होती है। निवेशित बिंब 8×8 पिक्सल यूनिटों में बांटी जाती हैं, जिन्हें ब्लॉक कहा जाता है। हर ब्लॉक डी, सी, टी, की प्रक्रिया से होकर गुजरता है। हर ब्लॉक के 2-डीडीसीटी से होकर आवृत्ति प्रभाव क्षेत्र में परिवर्तन के पश्चात ब्लॉक के पुनर्मान निर्धारित डीसीटी गुणांकों को पूर्णांक में प्रस्तुत करने के लिए क्षीण बनाया जाता है।

3) **अल्पकालिक अतिरेक** : बिंब शृंखला में निकटस्थ चित्र अत्यधिक रूप से सहसंबद्ध होते हैं। निवेशित चित्र को 16×16 पिक्सल में अलग किया जाता है जिसे वृहद् ब्लॉक कहते हैं और तब प्रत्येक वृहद् ब्लॉक अल्पकालिक अतिरेक को हटाने के लिए गति परिमाणन त्रुटिपूर्ण प्रक्रिया से गुजरता है। प्रत्येक वृहद् ब्लॉक को पूर्णज्ञान त्रुटियों के आधार पर कूटित किया जाता है।

4) **एनट्रॉपी अतिरेक** : इसका अर्थ है कि जो चीजें अक्सर होती हैं उनका वर्णन संक्षेप में होना चाहिए क्योंकि हम पहले से जानते हैं



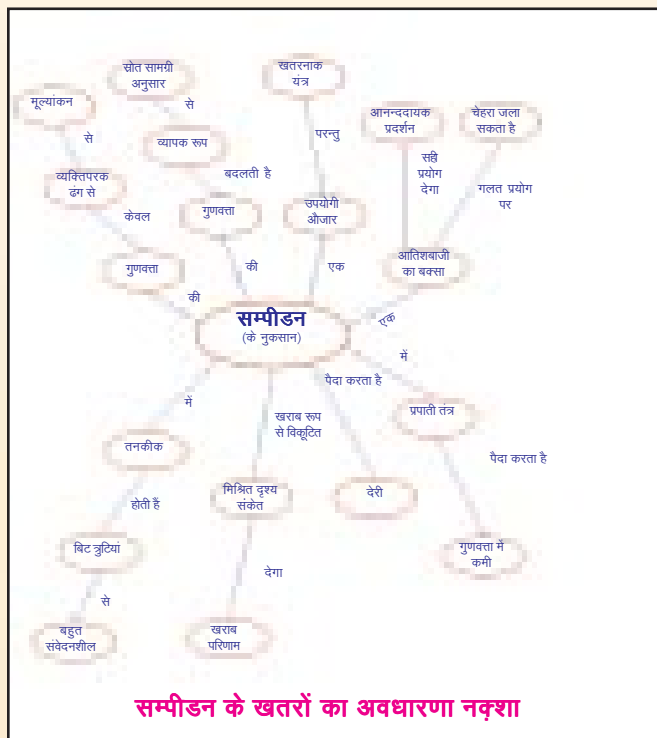
दृश्य संकेतों में अतिरेक का अवधारणा नक्शा

चित्र : 3

कि क्या होना है, और जो चीजें बार बार नहीं होतीं उनका वर्णन अधिक होना चाहिए क्योंकि वे असामान्य होती हैं। इस तरह हम न्यूनतम मात्रा में वर्णन से अधिकतम मात्रा में सूचना प्राप्त कर सकते हैं। अतः बार-बार आने वाले संकेत मूल्यों को कम लम्बाई के बिट्स दिए जाते हैं।

5) मनोदृश्य अतिरेक : इस प्रकार के अतिरेक में वो सूचना जो बहुत अल्प अवधि के लिए प्रकट होती है, जो हमारी आंख नहीं देख सकती है, उसको प्रेषित नहीं किया जाता है। दूसरे शब्दों में, मानव दृश्य यंत्र की सीमाओं का लाभ उठाया जाता है।

यदि विकूटक का उत्पाद स्रोत आधारभूत सामग्री के समान होता है तो संपीडन को दोषरहित संपीडन कहा जाता है। इससे दोष रहित सामग्री



सम्पीडन के खतरों का अवधारणा नक्शा

चित्र : 4

दर प्राप्त होती है। कम्प्यूटर आंकड़ों के लिए दोषरहित संपीडन उपयुक्त होता है और 2 : 1 का निम्न संपीडन कारक उपलब्ध कराता है।

यदि विकूटक का उत्पाद स्रोत आंकड़ों के समान नहीं होता है तो संपीडन को दोषपूर्ण संपीडन कहा जाता है। यह मनो-ध्वनि और मनो-दृश्य ग्रहण पर आधारित होता है। हानिपूर्ण संपीडन अपेक्षित बैंड चौड़ाई को कम कर देता है और यह कम्प्यूटर आंकड़ों के लिए उपयुक्त नहीं है।

क्या संपीडन पूर्णरूप से दोषमुक्त है?

“संपीडन” प्रौद्योगिकी ने ‘डिजिटल क्रांति’ को एक बड़ी सफलता बनाने में मुख्य भूमिका निभाई है। यह प्रौद्योगिकी बड़ी जिज्ञासापूर्ण है और इसमें हर चीज़ बहुत आनन्ददायक प्रतीत होती है। लेकिन यह सच्चाई से परे है। संपीडन बहुत उपयोगी औजार है लेकिन एक खतरनाक यंत्र भी। यह आतिशबाजी के बक्से की तरह है। यदि इसका

विवेकपूर्ण उपयोग किया जाए तो यह अच्छा प्रदर्शन करेगा अन्यथा यह आपके चेहरे को जला सकता है। जैसा कि नीचे वर्णित है संपीडन की बहुत सी कमियां हैं। (कृपया संपीडन के खतरों के लिए चित्र 4 के अवधारणा नक्शे का संदर्भ लें)

- परिभाषा के अनुसार, संपीडन संकेतों से अतिरेक को हटा लेता है। आंकड़ों को त्रुटियों से बचाने के लिए तथापि अतिरेक आवश्यक है। परिणामस्वरूप संपीडित आंकड़ों असंपीडित आंकड़ों की तुलना में त्रुटियों के लिए अधिक संवेदनशील होते हैं।
- मूल असंपीडित आंकड़ों की पुनर्प्राप्ति की प्रविधियां संकेत की संभाव्य विशेषताओं पर आधारित होती हैं। यद्यपि दृश्य एवं श्रव्य संकेतों के अनेक उत्कृष्ट संभाव्य नमूने प्रस्तावित किए जा चुके हैं, फिर भी संकेत आंकड़ों की अस्थिरता के कारण गंभीर सीमाएं बनी हुई हैं। इसके अतिरिक्त आंकड़ों एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग के दौरान व्यापक रूप से भिन्न हो सकते हैं।

सांख्यिकी अतिरेक की तुलना में मानव प्रत्यक्ष ज्ञान की संभावनाओं पर आधारित सूचना को अलग करना नामुमकिन है। मूल आंकड़ों इस प्रकार के विस्थापन द्वारा पुनर्प्राप्ति नहीं किए जा सकते हैं और यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में भिन्न होता है और संदर्भ और उपयोग पर आधारित होती है। लैम्पेल-जिव-वेरव कोडेक जैसी सारिणी का प्रयोग करते हुए संपीडन तकनीक बिट त्रुटियों के प्रति बहुत संवेदनशील होते हैं क्योंकि सारिणीमान के अनुसार प्रसारण में एक त्रुटि हर समय बिट त्रुटियों में बदल जाती है जो सारिणी स्थल पर पहुंचते हैं। इसे त्रुटि संकेतक के रूप में जाना जाता है।

भिन्न लम्बाई कूटन तकनीक बिट त्रुटियों के प्रति बहुत संवेदनशील होती हैं।

प्रपत्ती संपीडन प्रणाली से गुणवत्ता कम होती है और जितनी बिट दर कम होती है उतना ही उसका परिणाम खराब होता है। यदि संपीडन में उत्पादन के बाद कोई कार्य किया जाता है तो गुणवत्ता में और कमी आ जाती है।

- संपीडन प्रणाली में विलम्ब उत्पन्न करता है।
- दोषरहित स्रोत सामग्री के साथ संपीडन प्रणाली अच्छा कार्य करती है। कोलाहलपूर्ण संकेत अथवा खराब रूप से कूटित मिश्रित दृश्य संकेत बुरा परिणाम देते हैं।
- निवेशी दृश्य कोलाहल अन्तकूटन को नष्ट कर देता है क्योंकि चित्रों में अतिरेक कम होता है।
- अधिक संपीडन के परिणामस्वरूप उच्च आवृत्ति क्रोमा के गुणांक छूट जाते हैं, जिससे वर्णपात हो जाता है।

संपीडन के समुचित कार्य में बरती जाने वाली सावधानियां

इस लेख में संपीडन को अंकीय क्रांति के हृदय के रूप में वर्णित किया गया है। मानव शरीर को सही स्थिति में रखने के लिए हृदय को समुचित रूप से कार्य करना होता है अतः हृदय के कार्य की निरंतर निगरानी और उचित देखभाल आवश्यक है। इसी प्रकार संपीडन तकनीकों पर निरंतर निगरानी रखी जानी चाहिए। पूर्ण डिजिटल क्रांति लाने के लिए संपीडन प्रक्रिया के दौरान निम्नलिखित सावधानियां बरती जानी चाहिए।

- संपीडित आंकड़ों का प्रयोग करने वाली प्रसारण प्रणाली में अधिक

शक्तिशाली त्रुटिशोधक युक्तियां शामिल करना चाहिए और उन सम्पीडन तकनीकों का परित्याग करना चाहिए जो अवांछित रूप से संवेदनशील हैं।

- यदि सम्पीडन का प्रयोग करना है तो सम्पीडन की मात्रा यथासंभव कम होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में उच्चतम व्यावहारिक बिट दर का प्रयोग होना चाहिए।
- यदि आवश्यक न हो, सम्पीडन का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।
- श्रव्य कोडकों के स्तर पर शोधन किया जाना चाहिए क्योंकि जब ध्वनि दबाव स्तर पर आधारित कूट कूटक में कूटित किए जाते हैं तो वह स्तर माइक्रोफोन में वास्तव में पहले से होते हैं।
- सम्पीडन गुणवत्ता का विषय-वस्तु के आधार पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए।
- स्रोत सामग्री के साथ सम्पीडन गुणवत्ता भिन्न भिन्न होती है। प्रदर्शक के समय ध्यान रखा जाना चाहिए कि कहीं कम बिट दरों की प्राप्ति के लिए विशेष चयनित सामग्री का प्रयोग न किया गया हो।
- कोडक के निष्पादन का मूल्यांकन करते समय दोषों की आलोचना में संकोच नहीं करना चाहिए। आंख और कान कोडक के उत्पाद की गुणवत्ता का मूल्यांकन करने के लिए सबसे अच्छे साधन हैं।

- दृश्य संकेतों के संबंध में स्थानिक और अस्थायी दोषों को अलग करने के लिए स्थिर ढांचे का प्रयोग किया जाना चाहिए।

निष्कर्ष

निस्संदेह रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्पीडन प्रौद्योगिकी ने डिजिटल क्रांति को यथार्थ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। सम्पीडन प्रौद्योगिकी के विकास में संकेत प्रक्रियाओं की अभूतपूर्व उन्नतियां और वीएलएस आई उल्लेखनीय प्रगति लाई है। सम्पीडन अब उस स्थिति में पहुंच गया है जहां वह बड़े पैमाने पर दृश्य और श्रव्य प्रणालियों में आर्थिक रूप से प्रयोग में लाया जा सकता है। सम्पीडन को पारम्परिक रूप से गणितीय आधार पर वर्णित किया जाता है। किंतु इस लेख में सम्पीडन प्रक्रिया की पूर्ण अवधारणा को यथासंभव सहजता से स्पष्ट किया गया है। सम्पीडन एक आश्चर्यजनक औजार है लेकिन इसके साथ कई खतरे जुड़े हैं। निराशा को दूर करने के लिए उल्लिखित सावधानियां अवश्य बरती जानी चाहिए।

डॉ. राकेश कुमार सिंह – डायरेक्टर (इंजिनियरिंग), पी एण्ड डी यूनिट, आकाशवाणी महानिदेशालय, आकाशवाणी भवन, संसद मार्ग, नई दिल्ली – 110001

• • •

पृष्ठ10 का शेष

काला (या भूरा) सरसों का बीज भी सीधे एक मसाले के रूप में काफी उपयोग किया जाता है। उनका तीखापन पकाने पर पूरी तरह नष्ट हो जाता है और इसलिए सरसों के दाने की अधिक से अधिक देर करके डालना चाहिए। भारतीय लोग सरसों के दाने को इस्तेमाल करने से पहले भूनते हैं जब तक कि वे धूसर नहीं हो जाते, इससे उनकी विशेषता पूरी तरह बदल जाती है : उनका एक रुचिकर स्वाद हो जाता है, जिसकी किसी अन्य मसाले से तुलना नहीं की जा सकती और जो विशेषकर दक्षिण भारतीयों द्वारा खूब पसंद किया जाता है) काला सरसों का बीज बंगाली मसालों के मिश्रण पंच फोरन तथा दक्षिण भारतीय सांभर पोडी का एक आवश्यक घटक है। दक्षिण भारत में सुगंधित मक्खन में आमतौर पर काले सरसों के दाने की सुगंध होती है। ऐसा कहा जाता है कि नहाने के पानी में सरसों डालने से जोड़ों के दर्द से राहत मिलती है।

औषधीय उपयोग

सरसों का उपयोग शताब्दियों से औषधि के रूप में किया जाता रहा है। प्राचीन पांडुलिपियों में फुफ्फुसीय बीमारियों, सांप के काटने और त्वचा में ददोरा पड़ने पर सरसों के उपयोग की सलाह दी गयी है। आधुनिक समय में भी रुमटिज्म, आर्थराइटिस, गलशोथ, दांत दर्द आदि में भी सरसों की रोगनाशक शक्ति का उपयोग किया जाता है। लिनेइयस के अनुसार सरसों एक प्रबल कामोद्दीपक होता है, शायद इसी कारण स्वीडन में क्रिसमस की संध्या पर होने वाले उत्सवों में इसका व्यपक प्रयोग किया जाता है। ये उत्सव एक तरह के जनन अनुष्ठान होते हैं।

सरसों को एपेरिटिव, रोगानुरोधी, एंटीसेप्टिक, दाहक, उद्दीपक, मूत्रवर्धक और वमनकारी माना जाता है। आंतरिक प्रदाह, मुख्य रूप से न्यूमोनिया, श्वसनी शोथ और श्वसन तंत्र के अन्य रोगों में सरसों का प्रयोग पुलटिस के रूप में किया जाता है। यह रक्त को सतह पर खींचकर विभिन्न अंगों के संकुलन से राहत देता है जैसे सिर के प्रभावित होने में और तंत्रिकांति व अन्य दर्द और जकड़न को शांत करता है। सरसों का आटा एक प्रमुख एंटीसेप्टिक व जीवाणुनाशक एजेंट साथ ही



साथ एक उत्तम दुर्गंधनाशक माना जाता है। एस्पिरिन और एंटीबायोटिक के आविष्कार से पहले के दिनों में आम तौर पर सरसों के मलहम का प्रयोग कई बीमारियों के उपचार में किया जाता था। ये मलहम जिन्हें पुल्टिस भी कहते थे, एक भीगे कपड़े में सूखा सरसों चूर्ण मिलाकर बनाये जाते थे। ये मलहम जलन को शांत करते थे और राहत प्रदान करते थे। आज भी दुनिया के कई भागों में सरसों के मलहम का उपयोग किया जाता है।

भारत के कई भागों में अचार बनाने में सरसों के चूर्ण का इस्तेमाल किया जाता है, जो न केवल सुगंध प्रदान करता है बल्कि एक प्राकृतिक कार्बनिक परिरक्षक के रूप में कार्य करता है। सरसों में मौजूद आइसोथियोसाइनेट कुछ खमीर, मोल्ड और जीवाणुओं के विकास को सीमित करता है। तैयार सरसों को लंबे समय तक खराब न होने के लिए कर्म करने की जरूरत नहीं होती और उसका स्वाद भी बना रहता है। सलाद के मसाले तथा सलाद की सजावट जैसे उत्पादों में पायसीकरण बढ़ाने के लिए सरसों के आटे का उपयोग किया जाता है। पायसीकरण में तेल/पानी के अंतरापृष्ठ पर संग्रहित सरसों के उत्तम कणों के लिए यह एक अच्छा स्थिरीकारी होता है। जो पायस को टूटने से बचाने में एक भौतिक एजेंट के रूप में काम करता है। सरसों में लगभग 30 प्रतिशत प्रोटीन होता है और कई गोशत उत्पादों में यह प्रभावी कीमत पर प्रभाव डालने वाला प्रोटीन स्रोत होता है। सरसों की भूसी में पाया जाने वाला गोंद एक उत्तम जल बंधक होता है, जबकि इसका आटा पायस की स्थिरता को बढ़ाता है। इसके गोंद में लगभग 25 प्रतिशत भूसी होती है और यह प्राकृतिक रूप से पाया जाता है। यह ठंडे जल में घुलनशील होता है, गर्म करने या जमने पर स्थिर होता है। यह एक उपचायक रोधी भी होता है। सरसों में प्राकृतिक रूप से उपस्थित टोकोफेरॉल्स गोशत के लिपिड के ऑक्सीकरण रोकने के लिए जरूरत से अधिक टोकोफेरॉल होता है, यह जिस प्रणाली में इस्तेमाल किया जाता है उसका अपना ऑक्सीकरण रोधी गुण उधार दे देता है।

• • •

शून्य का संक्षिप्त इतिहास

□ रिन्दू नाथ

‘गोगोल क्या तुम बता सकते हो कि बत्तख, अंडे और प्यार में आम क्या है?’ यह प्रश्न मेरे अंकल ने पूछा। मैं अपना गणित का होमवर्क कर रहा था और वह गणित के कुछ जटिल सवालों में उलझे हुए थे जब अचानक उन्होंने मुझ पर प्रश्न उछाल दिया। मैं एक छण के लिए घबरा गया। मुझे प्रश्न के बारे में कोई क्लू पता नहीं था। ‘क्या तुम और क्लू चाहते हो?’ मेरी खाली निगाहों को देखकर अंकल ने पुनः पूछा। ‘हां बिल्कुल.....’ मैं निश्चित नहीं था कि इससे मुझे कितनी मदद मिलेगी। ‘ठीक है, तुम्हारे लिए एक गूढ़ क्लू है : ऐसी संख्या जो एक वृत्तीय लेटर में प्राप्त होती है’, उन्होंने बताया। ‘मैं समझता हूँ कि पोस्टमैन से प्राप्त सभी लेटर आयताकार होते हैं। मैंने कभी कोई गोल लेटर नहीं देखा है’, मैंने उनसे तर्क करना चाहा।

‘मूर्ख, लेटर शब्द एक यमक है।’

इस समय मेरे बिना ठीक से सोचे जल्दीबाजी में जवाब दे देने से मेरे अंकल नाराज लग रहे थे।

ठीक है, इसके पहले कि आप भी मेरे साथ सोचने का प्रयास करें, मुझे अपना परिचय देने दें। मैं गोगोल हूँ। बेशक यह मेरा पुकारने का नाम है, लेकिन मुझे यह नाम बहुत पसंद है। और प्रत्येक व्यक्ति मुझे इस नाम से ही पुकारता है। जब मेरा जन्म हुआ था, मेरे गणितज्ञ अंकल ने मुझे यह नाम दिया।

गोगोल नाम से एक रोचक कहानी जुड़ी है जो मेरे अंकल ने मुझे बाद में बतायी थी। 1938 में एक गणितज्ञ डॉ. एडवर्ड कासनर (1878-1955) अपने 9 वर्षीय भतीजे मिल्टन सिरोट्टा से एक बहुत बड़ी संख्या जिसमें एक के बाद सौ शून्य हो (10¹⁰⁰), के लिए एक नाम सोचने को कहा। मिल्टन ने **गोगोल** नाम सुझाया। उसी समय एक बड़ी संख्या का नाम रखने के लिए डॉ. कासनर ने **गोगोलप्लेक्स** शब्द गढ़ा। पहले यह सुझाया गया कि **गोगोलप्लेक्स** वह संख्या होनी चाहिए जिसमें 1 के बाद इतने शून्य लगा सकें जितने कि लिखते-लिखते थक न जाएं। यह एक वर्णन था कि क्या होगा यदि एक व्यक्ति वास्तव में एक **गोगोलप्लेक्स** लिखने का प्रयास करता है, लेकिन आप अनुमान लगा सकते हैं कि विभिन्न लोग विभिन्न समय पर थकेंगे। **गोगोप्लेक्स** तब एक विशिष्ट निश्चित संख्या के रूप में निर्धारित किया गया जिसमें 1 के बाद इतने अधिक शून्य हों कि शून्यों की संख्या गोगोल हो जाए (10^{गोगोल})। एक गोगोप्लेक्स, गोगोल की तुलना में काफी बड़ा होता है, एक गोगोल से गोगोल गुना बड़ा। इन आविष्कारों के प्रति लोगों में रुचि पैदा हुई और प्रायः बहुत बड़ी संख्याओं की चर्चा के दौरान इनका उल्लेख किया जाता है। इस प्ररिप्रेक्ष्य में मैं आपको एक और जानकारी देता हूँ कि डॉ. एडवर्ड कासनर ने जेम्स न्यूमैन के साथ एक पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक है – मैथमेटिक्स एंड द इमेजिनेशन।

अब मैं अपने अंकल की पहली के बारे में बताता हूँ। मैंने उनके गूढ़ क्लू से अनुमान लगाने का प्रयास किया। इस क्लू ने कि **लेटर** शब्द एक यमक है मैंने इसके दूसरे अर्थ **अक्षर** के बारे में सोचना शुरू किया। तब मुझे ध्यान आया कि वृत्तीय अक्षर तो ‘O’ (ओ) होता है और इससे प्राप्त संख्या होगी..... ‘ओह, मैंने जान लिया! मैं चिल्ला उठा, ‘उत्तर शून्य होगा।’ लेकिन इसके बाद भी मैं समझ नहीं पा रहा था कि शून्य का बत्तख, अंडे और प्यार से क्या संबंध होगा। अतः मैंने टिप्पणी की, ‘लेकिन अंकल, अन्य तीनों शब्दों का शून्य से संबंध होगा?’

‘ठीक है, तुम जानते हो एक क्रिकेट खिलाड़ी **डक** (बत्तख) प्राप्त करता है.....’ हां जब वह कोई रन नहीं बनाता अर्थात् शून्य रन बनाता है’

‘और टेनिस या बैडमिंटन में तुमने स्कोर इस प्रकार सुना होगा – 10 लव’

‘और इस मामले में भी स्कोर लव (प्यार) का मतलब शून्य होता है’

‘फ्रेंच में अंडे के लिए शब्द होता है **लोएफ**। चूंकि शून्य आकार में एक हद

तक अंडे जैसा ही दिखता है अतः **लोएफ** भी कुछ बदलावों के बाद **लव** में बदल गया जिसके कारण शून्य को भी लव कहा जाने लगा। बेशक शून्य के लिए या शून्य जैसी संकल्पना के लिए कई नाम दिए गए हैं जैसे : सिफर, आट, नोट, नाट, नॉट, निल, नल, नथिंग, नन। ‘और मैंने लोगों को शून्य कहने के लिए ‘ओ’ अक्षर कहते सुना है जैसे 0131 को निरूपित करने के लिए O (ओ) – 1-3-1’

‘हां, तुम ठीक हो। एकल अक्षर वाले शब्दों को उच्चरित करना शीघ्रतापूर्ण व आसान होता है। शून्य के रूप में ‘ओ’ बोलने का यही कारण हो सकता है। निस्संदेह इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन काल के गणितज्ञों द्वारा शून्य को निरूपित करने के लिए ‘ओ’ जैसा ही कुछ प्रयोग किया जाता था।

‘वह जरूर कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति रहा होगा जिसने शून्य की खोज की?’

‘वास्तव में वह प्रतिभाशाली था। लेकिन शून्य का एक लंबा इतिहास है.....’

‘मुझे इसके बारे में कुछ बताएं’, मैं जानने के लिए अत्यंत उत्सुक था।

‘शुरु में एक संख्या के रूप में शून्य का पता नहीं था। खाली जगह की धारणा थी, जो धारणात्मक रूप से शून्य के समान हो सकता था। स्थितीय अंकन पद्धति में एक खाली स्थान को निरूपित करने के लिए लगभग 700 ईसा पूर्व बेबीलोनिया वासी तीन खूंटियों का प्रयोग करते थे। एक के लिए वे ‘Y’ जैसे प्रतीक चिन्ह तथा दस के लिए वे ‘<<’ जैसे प्रतीक चिन्ह का प्रयोग करते थे।

‘यूनानी गणितज्ञों के बारे में कुछ बताएं?’ मैंने पूछा।

‘हां, लगभग उसी समय, यूनानी गणितज्ञों ने गणित के क्षेत्र में कुछ अनोखा योगदान दिया। रोचक बात यह है कि यूनानी गणित मुख्यतः रेखा गणित पर आधारित है। यूक्लिड ने एलीमेंट्स नाम से नंबर थियरी पर एक किताब लिखी, लेकिन वह पूरी तरह रेखा गणित पर आधारित थी। लगभग 2000 साल से अधिक पुराने यूनानी गणित के नयूअर पद्धति में 1 से 9, 10 से 90 और 100 से 900 के लिए यूनानी अक्षरों का प्रयोग किया गया है। 1 को ‘A’ (अल्फा) से, दस को ‘I’ (आयोटा) से और 100 को ‘II’ (रो) से निरूपित किया गया। उन्होंने एक सीमित स्थान पद्धति का इस्तेमाल किया अतः ‘111’ को ‘PIIA’ के रूप में लिखा गया। 1000 व उससे ऊपर की संख्या के लिए उन्होंने हजार वाली संख्या के पहले एक चिन्ह ‘;’ अथवा ‘/’ का प्रयोग किया। अतः, 1000 को ‘,A’ अथवा ‘/A’ के रूप में और दस हजार को ‘,I’ अथवा ‘/I’ के रूप में लिखा गया। ‘असका मतलब है कि यूनानी गणितज्ञों में भी शून्य की धारणा नहीं थी’, मैंने आश्चर्य व्यक्त किया। ‘बिल्कुल शून्य जैसी धारणा नहीं थी। यूनानी खगोलविद् खाली स्थान को भरने की आवश्यकता महसूस करते थे और इसके लिए उन्होंने ‘O’ (ओ) प्रतीक का इस्तेमाल शुरू किया। यह स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने यह विशेष चिन्ह ही क्यों चुना। ग्रीक भाषा में कुछ नहीं के लिए शब्द है – **ओयुडेन** शायद इसके पहले अक्षर से यह संबंधित हो अथवा यह **ओबोल** शब्द से लिया गया हो, जिसका मतलब होता है एक ऐसा सिक्का जिसकी कोई कीमत न हो।’ मैं समझता हूँ कि रोम के लोगों को भी शून्य के बारे में जानकारी नहीं थी, जैसा कि मैं जानता हूँ रोमन अंक पद्धति में 10 के लिए एक अक्षर ‘X’ प्रयुक्त होता है। मैंने कहा। ‘तुम ठीक कहते हो। 1, 10, 100 और 1000 के लिए रोमन संख्याएं हैं – I, X, C और M। रोचक बात यह है कि यूनानी व रोमन लोग गणितीय क्रियाओं जैसे जोड़, घटाना, भाग अथवा गुणा के लिए अधिकांशतः गिनतारे (ऐबकस) पर निर्भर थे और उन्होंने शून्य से संबंधित किसी भी क्रिया के बारे में नहीं सोचा।

‘इसका मतलब है प्रारंभिक यूनानियों या रोमन गणितज्ञों के दिमाग में शून्य की संकल्पना नहीं थी’, मैंने कहा।

‘हां, अधिकांश सभ्यताओं के प्रारंभिक इतिहास में शून्य या इसके उपयोग के संबंध में कोई ठोस साक्ष्य नहीं मिलता। ऐसी कोई चीज जो शून्यता को निरूपित

करे, उसकी गणना करने में आने वाली धारणात्मक कठिनाई के कारण ऐसा हो सकता है।

‘भारतीय सभ्यता के बारे में क्यों कहेंगे?’ मैंने रुचि दिखायी।

‘लगभग 650 ईस्वी में, भारतीय गणित में शून्य का एक संख्या के रूप में प्रयोग होने लगा। भारतीय एक स्थानमान प्रणाली का प्रयोग करते थे और एक खाली स्थान को निरूपित करने के लिए शून्य का प्रयोग किया जाता था। वास्तव में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि भारत में 200 ईसा पूर्व से ही स्थितीय संख्याओं में एक खाली स्थान वाले अंक के प्रमाण मिलते हैं। लगभग 500 ईसा पूर्व में आर्यभट्ट ने एक संख्या प्रणाली का आविष्कार किया, जिसमें एक स्थितीय प्रणाली के रूप में कोई शून्य नहीं था बल्कि उसका प्रयोग खाली स्थान निरूपित करने के लिए किया जाता था। इस बात के प्रमाण हैं कि स्थितीय अंकन पद्धति में खाली स्थान को निरूपित करने के लिए प्रारंभिक भारतीय पांडुलिपियों में एक बिंदु का प्रयोग किया जाता था। उदाहरण के लिए ‘100’ को लिखने के लिए 1 के बाद दो बिंदु लगाये जाते थे।’

‘इसका मतलब है कि शून्य का एक संख्या के रूप में प्रयोग शुरू हो चुका था’, मैंने कहा।

‘628 ईस्वी में ब्रह्मगुप्त ने **ब्रह्मस्फुट सिद्धांत** नामक पुस्तक लिखी और शून्य व ऋणात्मक संख्याओं सहित अंक गणित के लिए नियम देने का प्रयास किया। उन्होंने व्याख्यायित किया कि यदि किसी संख्या से स्वयं उस संख्या को घटाया जाय तो शून्य प्राप्त होता है। उन्होंने जोड़ के लिए निम्नलिखित नियम दिया जिसमें शून्य भी शामिल है।

शून्य और एक ऋणात्मक संख्या का योग ऋणात्मक होता है, धनात्मक संख्या और शून्य का योग धनात्मक होता है, शून्य और शून्य का योग शून्य ही होता है।

इसी प्रकार उन्होंने घटाने के लिए भी सही नियम दिए।

‘ब्रह्मगुप्त ने इसके बाद कहा कि किसी भी संख्या में जब शून्य से गुणा किया जाता है तो उसका मान शून्य होता है, लेकिन उन्होंने कुछ ऐसे भी नियम दिए जो सही नहीं थे। लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि अभी शून्य की धारणा का विकास हो रहा था तो यह स्वाभाविक है कि उनसे कुछ गलतियाँ हुई हों। अतः ऋणात्मक संख्याओं, शून्य और धनात्मक संख्याओं के आलोक में संख्या प्रणाली को परिकल्पित करने का यह एक उत्तम प्रयास था।

‘ब्रह्मगुप्त एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे!’ मैंने बोल पड़ा।

‘830 ईस्वी में महावीर ने **गणित सार संग्रह** पुस्तक लिखी जो कि ब्रह्मगुप्त की पुस्तक का एक अद्यतन संस्करण जैसा था। उन्होंने शून्य के संबंध में कई सही नियम बताये, लेकिन शून्य से भाग देने का उनका नियम भी गलत साबित हुआ।’

‘तो क्या इसमें कोई व्यक्ति सुधार कर सका?’ मैंने पूछा।

‘ब्रह्मगुप्त के 500 वर्ष बाद भास्कर ने शून्य की समस्या को हल करने का प्रयास किया। उन्होंने नियम दिया कि किसी भी संख्या में शून्य से भाग देने पर अनन्त प्राप्त होता है। यद्यपि धारणात्मक रूप से यह अब तक गलत है लेकिन भास्कर ने शून्य की अन्य विशेषताओं के बारे में सही नियम दिए जैसे शून्य का वर्ग शून्य होता है और शून्य का वर्गमूल शून्य होता है।

‘यानी भारतीय गणितज्ञों ने शून्य की धारणा का विकास किया और शून्य से संबंधित विभिन्न गणितीय क्रियाओं के संबंध में नियम बनाए। लेकिन पूरी दुनिया में इस धारणा का प्रसार कैसे हुआ?’ मैंने पूछा।

‘इस्लामी व अरबी गणितज्ञों ने भारतीय गणितज्ञों के विचारों को सुदूर पश्चिम तक फैलाया। अल-ख्वारिज़्मी ने शून्य व अन्य अंकों पर आधारित भारतीय स्थान-मान प्रणाली का वर्णन किया। 12वीं शताब्दी में इब्न इजरा ने एक पुस्तक **‘द बुक ऑफ द नंबर’** लिखी जिसने भारतीय अंक चिन्हों और दशमलव प्रणाली को यूरोप तक पहुंचाया।

‘1247 ईस्वी में चीनी गणितज्ञ च इन चिउ – शाओ ने एक पुस्तक

मैथमेटिकल ट्रीटाइस इन नाइन सेक्शांस लिखी जिसमें शून्य के लिए ‘0’ (ओ) चिन्ह का प्रयोग किया गया है। 1303 ईस्वी में चु शिह-ची ने एक पुस्तक **जेड मिरर ऑफ द फोर एलीमेंट** पुस्तक लिखी जिसमें पुनः शून्य के लिए ‘0’ (ओ) चिन्ह का प्रयोग किया गया।

‘लगभग 1200 ईस्वी में लियोनार्डो फिबोनाची ने **लिबर अबाकी** नामक एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने ‘0’ (शून्य) सहित नौ भारतीय चिन्हों का वर्णन किया। हालांकि शून्य की धारणा को स्वीकार करने में कुछ समय लगा। दुनिया भर के गणितज्ञों के भारी समर्थन व आलोचना का सामना करने के बाद 1600 ईस्वी के आसपास शून्य का व्यापक प्रयोग शुरू हो गया।

‘यानी हमारे पूर्वजों द्वारा दी गयी **शून्यम** की धारणा को दुनिया भर में मान्यता मिली और इसने स्थायी रूप से शून्य के रूप में स्थान बनाया’, मैंने टिप्पणी की। रोचक बात यह है कि अंग्रेजी का **जीरो** शब्द भी संभवतः संस्कृत के **शून्यम** या हिन्दी के **शून्य** शब्द से बना है। **शून्यम** शब्द को अरबी में अनुवादित करके **अल-सिफर** लिखा गया। फिबोनेकी ने इसका उल्लेख **सिफ्रा** के रूप में किया है जिससे वर्तमान सिफर शब्द बना है जिसका मतलब होता है खाली स्थान। इस मूल इटैलियन शब्द या मध्यकालीन लैटिन **जेफिरम** में परिवर्तन से संभवतः वर्तमान **जीरो** शब्द का विकास हुआ है।

‘यह वास्तव में रुचिकर है। अंकल मुझे एक प्रश्न पूछना है। शून्य से भाग देने के संबंध में मैं अभी दुविधा में हूँ। क्या आप इसे और स्पष्ट कर सकते हैं?’ मैंने अपनी समस्या बतायी।

‘ठीक है प्रिय, इसका स्पष्टीकरण करने में कुछ समय लग सकता है। मैं इसे किसी और दिन बताऊंगा’, अंकल ने टिप्पणी की और एक लंबी बहस के बाद पुनः समस्या सुलझाने में तल्लीन हो गये। मुझे भी अपना होमवर्क करना था, अतः मैं भी समय को देखते हुए चुप हो गया। लेकिन शून्य मेरे दिमाग में घूम रहा था और **कुछ नहीं** की इस चमत्कारी धारणा से संबंधित कई प्रश्न मेरे मन में उठने शुरू हो गये थे।

• नाम में क्या रखा है?

पुर्तगाली	:	जीरो
इटैलियन	:	न्यूलिता
फ्रेंच	:	जीरो
जर्मन	:	नल
स्पैनिश	:	सीरो
डैनिश, इंडोनेशियन	:	नॉल
डच	:	नल
फिनिश	:	नोला
हंगेरियन	:	जीरो
नार्वेजियन	:	नल
स्वीडिश	:	नॉल

- शून्य से मिलते-जुलते अर्थ वाले अन्य शब्द हैं – जीरो, सिफर, आट, नोट, नॉट, निल, नल, नथिंग, नन।
- संभवतः पर्यायवाची शब्द **जीरो (Z)** और निल (n) से ही **जित्व** शब्द की उत्पत्ति हुई जिसका मतलब भी कुछ नहीं होता है। एक तुच्छ या अस्तित्वहीन व्यक्ति को भी **जित्व** कहा जाता है।
- शून्य के लिए एक अन्य खास शब्द **गूज एग** (हंस का अंडा) प्रयोग किया जाता है, विशेषकर जब किस्ती मैच में स्कोर शून्य होता है।
- गणित में एक पद **इनफिनिटिसिमल** एक ऐसे फलन या चर को प्रदर्शित करता है जो निरंतर एक सीमा के रूप में शून्य को स्पर्श करने का प्रयास करे।
- **निलपोटेन्ट** एक बीजगणित की मात्रा है जिसे एक निश्चित घात तक बढ़ाने पर उसका मान शून्य के बराबर हो जाता है।

स्रोत: शून्य के इतिहास का विस्तृत विवरण के लिए देखिए -

<http://www.groups.dcs.st-and.ac.uk/~history/HistTopics/Zero.html>

• • •

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की अभिनव उपलब्धियां

बर्फीली एल्गी में ग्रीनहाउस गैस की अवशोषण क्षमता

एकल कोशिकीय एल्गी 'निवेलिस' की पतियों में ग्रीन हाउस गैस अवशोषण की क्षमता होती है। यह लाल रंग की एल्गी, 2,500 मीटर से अधिक ऊंचाई पर पायी जाती है जहां तापक्रम जमने के बिन्दु से भी नीचे होता है। इन परिस्थितियों के बावजूद अधिक विकरण स्तर पर वाष्पोत्सर्जन क्रिया के फलस्वरूप निवेलिस अपने आसपास की कार्बनडायाऑक्साइड अवशोषित कर लेता है। यद्यपि बर्फ से ढकी एल्गी का क्षेत्र काफी कम है परन्तु यह कार्बन शोषण में महत्वपूर्ण है।

सेन्ट मेरी कॉलेज, मेरीलैंड के जीव विज्ञान प्रोफेसर विलियम ई. विलियम्स और उने सहयोगियों ने बर्फ से ढकी चट्टानों में स्थित निवेलिस का अध्ययन किया। वैज्ञानिकों ने एक खोखले प्लेक्सी ग्लास चैम्बर को निर्मित किया जो वाष्पोत्सर्जन क्रिया के प्रति संवेदी था और इससे मापन आसानी से किया जा सकता था। उन्होंने देखा कि इसमें उपस्थित बैक्टीरिया भूमि एवं वायु से कार्बन डाई ऑक्साइड अवशोषित कर लेता है। जब उसे अपने चारों ओर के प्रकाश में लाया जाता है। अपने प्राकृतिक प्रकाश के छनन के पश्चात् टीम ने यह निष्कर्ष निकाला कि निवेलिस लाल प्रकाश में अवशोषण सफेद, नीले और हरे प्रकाश की अपेक्षा अधिक करता है। ऐसा उसके लाल रंग होने के कारण होता है। उन्होंने बताया कि एक वर्ग मीटर में उपस्थित बर्फ लगभग 5 ग्राम कार्बन प्रत्येक वर्ष अवशोषित कर लेता है जो काफी महत्वपूर्ण है।

अमेरिका ने जामुन की उपचार क्षमता को प्रमाणिकता दी

भारतीय अनुसंधानकर्ताओं की टीम को जामुन से निकले निष्कर्ष को अमेरिका ने पेटेंट प्रदान किया है जो रक्त में शर्करा की मात्रा को कम करने की क्षमता रखता है। अमेरिकी पेटेंट आफिस से डाइबिटीज नियंत्रण के लिए जामुन के उपचार को पेटेंट प्रदान किया है।

इस प्रक्रिया में दिल्ली युनिवर्सिटी के बायोकेमिस्ट्री विभाग और इंडियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च के अनुसंधानकर्ताओं ने संयुक्त रूप से कार्य किया।

जी.टी.बी. हास्पिटल के प्रोफेसर डॉ. सुमन बाला शर्मा ने कहा "इस समय

इसके टोक्सोलोपीकल और क्लिनिकल परीक्षण किए जा रहे हैं। इसके परीक्षण पशुओं पर किए जा चुके हैं और परिणाम अच्छे आये हैं। जामुन की छाल से निकले निष्कर्ष को खरगोश पर परीक्षण किया गया और पाया गया कि यह रक्त में शर्करा की मात्रा को नियंत्रित कर सकता है।" यह देखा गया है कि इन्सुलिन के इंजेक्शन की तरह इसका प्रभाव दवा को लेने के बाद दो तीन दिन तक रहता है।

यह एन्जाइम की सक्रियता को बढ़ाकर रक्त में ग्लूकोज की मात्रा को कम कर देता है और प्लाज्मा इन्सुलिन की मात्रा भी बढ़ा देता है। यह कैलोस्ट्राल स्तर को भी कम कर देता है।

आई.सी.एम.आर. ने अमेरिकी पेटेंट के लिए फरवरी 2001 में आवेदन किया था। अब यह स्वीकार किया जा चुका है परन्तु इसके परीक्षण मानव पर करने और दवा का रूप देने में समय लगेगा।

पुरुषों में बायोलॉजिकल क्लोक बीस वर्ष की अवस्था में सक्रिय

अभी तक महिलाओं में बायोलॉजिकल क्लोक पर काफी ध्यान दिया गया है विशेषकर, जब महिलाओं में प्रजनन क्षमता घटी है। अभी हाल में ही व्युमन रिपोडक्शन जर्नल में अनुसंधान प्रकाशित हुआ है जिससके अनुसार मनुष्यों में प्रजननता उसके बीस वर्ष की उम्र से ही घटना प्रारंभ हो जाती है।

ब्रेकली स्थित यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया के ब्रेन्दा स्केनाली और लॉरेन्स लिवरमोर नेशनल प्रयोगशाला के एन्ड्रू यरोबेक की टीम ने 97 स्वस्थ एवं धूम्रपान न करने वाले पुरुषों पर परीक्षण किया, जिनकी उम्र 22 एवं 80 वर्ष के बीच थी और यह पाया गया कि उम्र के बढ़ने के साथ-साथ सीमेन की मात्रा कम होती जाती है। यह सीमेन ही मनुष्य की प्रजननता में प्रमुख होता है। सीमेन की मात्रा और उसका बहाव उम्र के साथ कम होता जाता है। एकेनाली के अनुसार महिलाओं में उनकी उम्र का अभी पता नहीं चला है परन्तु समय के अनुसार महिलाओं में भी अन्तर आ जाता है।

संकलन : कपिल त्रिपाठी

भूकंप समझने के लिए एक गतिविधि किट

हम भूकंप को टाल तो नहीं सकते, फिर भी हम उनके प्रभावों को, उनके द्वारा होने वाली विभीषिकाओं को पहचानकर, सुरक्षित बनाकर और भूकंप सुरक्षा संबंधी लोगों में जानकारी प्रचारित करके उल्लेखनीय रूप से कम कर सकते हैं। इस बात की आवश्यकता का महत्व समझकर, विज्ञान प्रसार ने भूकंप पर एक गतिविधि किट तैयार किया है – जिसका केन्द्रीय संदेश है – 'भूकंप – हम उन्हें टाल नहीं सकते व तैयारी और समझ ही हमें सुरक्षित बनाए।' कई गतिविधियां जैसे – पृथ्वी के आंतरिक भाग का कट आउट, सीसमोलॉजिकल प्रयोगशाला; भूकंप के केन्द्र का पता कैसे लगाएं, विभिन्न प्रकार के दोषों पर फ्लिप पुस्तिका, सीसमिक तरंगों का साधारण प्रदर्शन, भूकंप के दोषों के त्रिआयामी मॉडल, टिटोनिक् प्लेट को निर्देशित करता हुआ पृथ्वी का



मॉडल, सीसमोग्राफ के सिद्धांत को समझना, भारत के भूकंप प्रभावित क्षेत्रों को नक्शे में रंगों से दर्शाना, भूकंप के समय और उसके बाद क्या करें और क्या न करें, भूकंप संबंधी शब्दावली पर लघु पुस्तिका और भूकंपरोधी इमारतों को समझने संबंधी गतिविधियां – आदि इस किट के कुछ प्रमुख आकर्षण हैं।

गतिविधि किट होने के अलावा, यह सामग्री भूकंप जागरण कार्यक्रमों के लिए भी उपयोगी है। 'भूकंप' नामक डॉ. सुबोध महंती की लिखी एक विस्तृत जानकारी वाली पुस्तिका भी इसके साथ है। ये किट हिन्दी अंग्रेजी दोनों में उपलब्ध हैं। विस्तृत जानकारी के लिए – निदेशक, विज्ञान प्रसार, सी-24, कुतुब इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली 110016 से संपर्क करें।

•••